संवर्ग-1 : तत्त्व एवं उसके प्रकार

तत्त्व का स्वरूप, तत्त्व के प्रकार, तत्त्व चिंतन का लक्ष्य, अस्तिकाय

संरचना

1.0 उद्देश्य

1.0 प्रस्तावना

1.0 तत्व क्या है?

2.0 तत्त्व का स्वरूप

- 2.1 नवतत्त्वों का क्रम
- 2.2 जीव-अजीव की दृष्टि से नवतत्त्व
- 2.3 तत्त्व ज्ञेय, हेय और उपादेय रूप में
- 2.4 मूर्त्त और अमूर्त्त

3.0 तत्त्व वर्गीकरण या तत्त्व के प्रकार

- 3.1 जीव तत्त्व
- 3.2 अजीव तत्त्व
  - 3.2.1 अजीव के प्रकार
- 3.3 पुण्य तत्त्व
- 3.4 पाप तत्त्व
- 3.5 आस्रव तत्त्व

बोध प्रश्न

- 3.6 संवर
- 3.7 निर्जरा तत्त्व
- 3.8 बन्ध
  - 3.8.1 बन्ध के प्रकार
  - 3.8.2 बन्ध के हेतु
- 3.9 मोक्ष
  - 3.9.1 जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप
  - 3.9.2 मोक्ष मार्ग

4.0 अस्तिकाय

सारांश

अभ्यास के प्रश्न

उद्देश्य-

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम

1. तत्त्व के स्वरूप को समझ सकेंगे।
2. जैन तत्त्व चिंतन की उपयोगिता का ज्ञान कर सकेंगे।
3. जैन तत्त्व के भेद-प्रभेद का सांगोपांग विवेचन कर सकेंगे।
4. भारतीय दर्शन में तत्त्व विचार का ज्ञान कर सकेंगे।
5. अस्तिकाय द्रव्यों की जानकारी कर सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रस्तावना

तत्त्वचिंतन दर्शन का प्राण है। दर्शन की प्रत्येक परम्परा में तत्त्व का न्यूनाधिक चिंतन अवश्य हुआ है। किसी भी परम्परा ने तत्त्व की उपेक्षा नहीं की है। जब भी हम किसी दर्शन के बारे में बात करते हैं तो पहला प्रश्न यही करते हैं कि अमुक दर्शन में कितने तत्त्व स्वीकार किये गये हैं? अमुक दर्शन में तत्त्व का क्या स्वरूप है? इससे यह सिद्ध होता है कि हर दार्शनिक परम्परा का आधार है उसका तत्त्व सम्बन्धी चिंतन। यदि कहें कि दर्शन परम्परा का आकलन ही तत्त्वों के आधार पर होता है तो यह कोई असंगत कथन नहीं। कल्पना कीजिए क्या तत्त्व के बिना कोई परम्परा जीवित रह सकती है। यह बात दूसरी है कि तत्त्व का स्वरूप क्या हो और तत्त्व कितने हों? भारतीय परम्परा में दार्शनिकों में तत्त्व की संख्या को लेकर मतभेद रहा है। सांख्य यदि 25 तत्त्व मानते हैं तो योग दर्शन के प्रणेता ने ईश्वर को मिलाकर 26 तत्त्व माने हैं। नेयायिकों ने 16 तत्त्वों (पदार्थों) का उल्लेख किया है तो वैशेषिकों ने सात तत्त्वो (पदार्थों) का उल्लेख किया है। चार्वाक चार भूततत्त्वों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) को ही महत्त्व देता है। बौद्धो मे चार आर्यसत्य ही सब कुछ हैं। मीमांसको के अनुसार वेदविहित कर्म और धर्म ही मूल तत्त्व हैं। **"एकमेव परमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म"** कहकर शंकराचार्य ब्रह्म को ही एकमात्र मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन मे दो तत्त्व, सात तत्त्व एवं नवतत्त्व का उल्लेख मिलता है। यहां हमारा उद्देश्य जैन दर्शन की तत्त्व व्यवस्था पर प्रकाश डालना है।

1.0 तत्त्व क्या है?

तत्त्व का अर्थ है पदार्थ, पारमार्थिक वस्तु या सत्।

तत्त्व शब्द 'तत्' शब्द से बना है। संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम शब्द है। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। तत् शब्द में भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय लगाने से तत्त्व शब्द बना है। जैनदर्शन में तत्त्व, सत्त्व, सार, द्रव्य, अर्थ और यथार्थ आदि एकार्थक एवं पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यहां मूल चार शब्द हैं—सत्, द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ। तत्त्वार्थ सूत्र में **'सत् द्रव्य लक्षणं'** कहकर सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है। अस्तित्व की दृष्टि से जो मूल वस्तु या द्रव्य है वही तत्त्व है, जिसे हम द्रव्य भी कहते हैं। इनकी संख्या छः है।

तत्त्व का दूसरा अर्थ है **'तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु'** अर्थात् जो परमार्थ यानि मोक्ष की प्राप्ति में साधक या बाधक बनता है, वह पारमार्थिक पदार्थ तत्त्व है। इस रूप में नौ तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। अतः यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि जैनदर्शन में तत्त्व को समझाने के लिए दो पद्धतियां काम में ली गई हैं—जागतिक एवं आत्मिक। जहां लोक के विवेचन की प्रमुखता है, वहां छः द्रव्यों की चर्चा है। जहां आत्मा को केन्द्र में रखकर विवेचन हो, वहां नवतत्त्व का विवेचन उपलब्ध होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थ को तत्त्व कहते हैं। भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, उत्तराध्ययन आदि अनेक आगम नवतत्त्वों की विवेचना से भरे हुए हैं।

णव सब्भावपयत्था पण्णत्ता तं जहा
जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावं, आसवो, संवरो, णिज्जरा, बंधो, मोक्खो। (ठाणं 9/6)

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, आचार्य नेमिचन्द्र के द्रव्यसंग्रह में भी नवतत्त्वों का विश्लेषण हुआ है। उमास्वाती का तत्त्वार्थसूत्र तो नवतत्त्वों के सुन्दर एवं सांगोपांग विवेचन से परिपूरित है। आचार्यश्री तुलसी ने जैनतत्त्वविद्या भाग-1, 2, 3 में नौ तत्त्वों की अच्छी मीमांसा की है।

2.0 तत्त्व का स्वरूप

जैन दर्शन में विभिन्न दृष्टियों से तत्व का विवेचन हुआ है। जीव और अजीव इन दो तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण जैन दर्शन को द्वैतवादी दर्शन भी कहा जाता है। स्थानांगसूत्र और द्रव्यसंग्रह में दो तत्त्वों का विवेचन है। दूसरी दृष्टि से जीव अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व की अवधारणा है। तीसरी दृष्टि से पाप, पुण्य को स्वतंत्र मानकर नव तत्त्व माने गये हैं। जिन ग्रंथों में सात तत्त्वों का विवेचन हुआ है वहां पुण्य-पाप को बन्ध में समाहित किया गया है। अधिकतर आगम ग्रंथों में नवतत्व और नवपदार्थ का वर्णन उपलब्ध होता है। वे नौ तत्त्व इस प्रकार है-1. जीव 2. अजीव 3. पुण्य 4. पाप 5. अश्रव 6. संवर 7. निर्जरा 8. बंध और 9. मोक्ष।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.1 नवतत्त्वों का क्रम

यहां प्रश्न होता है कि नवतत्त्वों में जीव ही सबसे पहले क्यों? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सारी घटनाएं जीव के साथ ही घटती हैं। वही ज्ञाता है, शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता एवं स्वामी है। वही पुद्गलों का उपभोक्ता है। संसार में मोक्ष के लिए भी वही प्रवृत्ति करता है। अत: नवतत्त्वों में प्रधान जीव ही है। इसलिए क्रम में सबसे पहले वही है। चूंकि जीव के हर कार्य में चाहे उसकी गति, स्थिति, उपभोग एवं अवगाहना हो, उन सबमें अजीव उपयोगी होता है, अत: जीव के बाद अजीव का स्थान है। दोनों मिलते हैं तो बन्ध होता है अत: बन्ध तीसरे स्थान पर है। बन्धन शुभ और अशुभ होता है। शुभबन्धन पुण्य और अशुभबन्धन पाप है। अत: बन्धन के बाद पुण्य और पाप का क्रम है। इन शुभ-अशुभ कर्मों को आकर्षित करने वाला तत्त्व आस्रव है। जीव द्वारा कर्मों को रोकना 'संवर', अन्दर के कर्मों को निकालना निर्जरा और साधना से जीव का कर्म से पूरी तरह रहित हो जाना मोक्ष हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी क्रम को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''जीवाजीवा य बंधो य, पुण्यं पावासवो तह।
संवरो णिज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव।।''

चूंकि संसारी आत्मा को पुण्य से सुख का वेदन और पाप से दु:ख का वेदन होता है, अत: कुछ ग्रंथो में पुण्य और पाप का स्थान बन्ध और आस्रव के पहले भी रखा गया है। इसी प्रकार कहीं आस्रव को बन्ध से पहले और कहीं बन्ध के बाद में माना गया है।

नवपदार्थ की यह व्यवस्था तालाब के दृष्टान्त से भी समझी जा सकती है — जीव तालाब है और अजीव अतालाब रूप है। तालाब के अन्दर का पानी बन्ध है। पुण्य और पाप तालाब से निकलते हुए साफ और गन्दे पानी के समान है। आस्रव तालाब का नाला है। नाले को रोक देना संवर है। उलीचकर या मोरी (नाली) से पानी निकालना निर्जरा है। खाली तालाब मोक्ष है।

2.2 जीव-अजीव की दृष्टि से नवतत्त्व

जैसा कि पूर्व में ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मूलतत्त्व दो ही हैं — जीव और अजीव। इन्हीं के संयोग एवं वियोग से अन्य तत्त्वों को समझा जाता है। अत: अन्य सात तत्त्व इन्ही दो में ही समाहित हैं। बन्ध पुद्गल की अवस्था विशेष है, अत: बन्ध अजीव में समाहित होता है।इसी तरह पुण्य, पाप, बंध भी अजीव के पर्याय हैं अत: अजीव में समाहित हो जाते हैं। संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये जीव के पर्याय हैं अत: जीव में समाहित हो जाते हैं। आस्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति है, अत: जीव है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध ये चार तत्त्व अजीव हैं। जीव, आस्रव संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये पांच तत्त्व जीव हैं।

2.3 तत्त्व ज्ञेय, हेय और उपादेय रूप में

उपर्युक्त नवतत्त्व ज्ञेय, हेय और उपादेय के रूप में भी विभक्त किये जा सकते हैं। ज्ञेय से तात्पर्य है जिसे जाना जाये अर्थात् जो जानने योग्य है, हेय से तात्पर्य है जो उपेक्षा के योग्य है, तिरस्कार के योग्य है अर्थात् जो छोड़ने के योग्य है और उपादेय से तात्पर्य है जो आत्म-हित के लिए ग्रहण करने योग्य है। अध्यात्म के पथ पर अग्रसर होने वाले हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह जीव और अजीव दोनों को जाने। इन दोनों को जाने बिना वह मुक्ति की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। जीव की अशुभ प्रवृत्ति हेय है। शुभ प्रवृत्ति उपादेय है। पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध ये चारों हेय हैं। हर साधक के लिए मोक्ष की उपयोगिता है अत: मोक्ष उसके लिए उपादेय है और मोक्ष के कारण हैं संवर और निर्जरा। इस प्रकार आत्मोन्नति चाहने वाले हर व्यक्ति के लिए संवर, निर्जरा एवं मोक्ष उपादेय हैं।

2.4 मूर्त्त और अमूर्त्त

अब प्रश्न यह उठता है कि इन नव तत्त्वों में कितने तत्त्व मूर्त्त (रूपी) हैं और कितने अमूर्त्त (अरूपी), मूर्त्त से तात्पर्य है जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो। जिसमें ये गुण नहीं हैं वह अमूर्त्त अर्थात् अरूपी है। इन नवतत्त्वों में जीव अमूर्त्त है क्योंकि उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है। आश्रव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष भी अमूर्त्त हैं। अजीव के पांच भेद हैं — धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों अमूर्त्त या अरूपी हैं। पुद्गल मूर्त्त है। बन्ध, पुण्य और पाप भी पौदगलिक होने से मूर्त्त (रूपी) हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.0 तत्त्व वर्गीकरण या तत्त्व के प्रकार

जैन दर्शन में नवतत्त्व माने गये हैं, जिसे निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है—

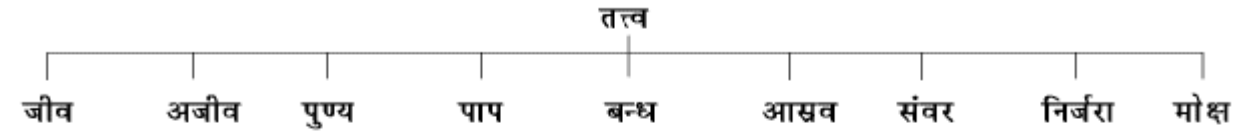

3.1 जीव तत्त्व

जिसमें चेतना हो, सुख-दु:ख का संवेदन हो उसे जीव कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में **'जीवो उवओग लक्खणो'** कहकर इस तथ्य को अभिव्यक्त किया गया है। चेतना जीव का स्वरूप लक्षण है, आगन्तुक लक्षण नहीं, इसीलिए **'उपयोग लक्षणो जीव:'** कहकर जीव को परिभाषित किया गया है अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। जीव लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है। प्रश्न उठता है कि उपयोग क्या है? समाधान के तौर पर कहा गया है कि **'चेतना व्यापार उपयोग:'** चेतना का व्यापार ही उपयोग है। आत्मा का बोधरूप व्यापार ही उपयोग है। बोध का कारण है—चेतनाशक्ति। जिसमें चेतना हो उसी में बोध क्रिया होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में जीव ज्ञान-चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशित है। ज्ञान जीव का एक विशिष्ट गुण है, जिसके कारण जीव में जानने की प्रवृत्ति होती है। द्रव्य के रूप में जीव चेतनामय अविभाज्य असंख्य-प्रदेशी पिण्ड है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव स्वयं कर्त्ता, भोक्ता एवं स्वामी होता है। वह सांख्य के पुरुष (आत्मा) की तरह अकर्त्ता, भोक्ता नही है। सांख्य मे पुरुष (आत्मा) कुछ करता नही है, किंतु फिर भी भोक्ता है। कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार जो जैसा करता है, वैसा ही फल भोगता है। अत: जैनदर्शन जीव को कर्त्ता के साथ ही भोक्ता भी मानता है। वही अपने कर्मफलों का स्वामी भी है।

यह संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार का है। इस तथ्य को तत्त्वार्थ सूत्र में **'संसारिणो मुक्ताश्च'** सूत्र के द्वारा समझाया गया है। जो जीव कर्मबंधन से युक्त है वह संसारी है और जो कर्मफल से पूर्णत: रहित हो गये हैं वे मुक्त हैं। जीव की परमविशुद्ध दशा ही मोक्ष है। संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं—त्रस और स्थावर। जो जीव गतिमान होते हैं, उन्हें त्रस और जो स्थिर होते हैं उन्हें स्थावर कहते हैं। स्थावर जीव सबसे अपूर्ण-अविकसित होता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति के जीव स्थावर जीव कहलाते हैं। इसमें केवल स्पर्शेन्द्रिय होता है अत: इन्हें केवल स्पर्श का भान होता है। गतिशील जीव (त्रस) दो इन्द्रिय वाले होते हैं, जिन्हें द्वीन्द्रिय कहा जाता है। इनमें त्वचा और जिह्वा है। ये सीप, घोंघा आदि हैं। चींटी आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। इसमें त्वचा, जिह्वा तथा नासिका ये तीनों इन्द्रियां है। मक्खी, मच्छर, भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। इनमें चार इन्द्रियां हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा चक्षु। उच्च पशुओं, पक्षियों तथा मनुष्यों में पांच इन्द्रियां होती हैं, जो इस प्रकार हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका, चक्षु तथा कर्ण। एकेन्द्रिय के भी दो भेद किये गये हैं—सूक्ष्म और बादर। पंचेन्द्रिय के भी दो भेद किये गये हैं—संज्ञी और असंज्ञी। एकेन्द्रिय जीवों को ध्यान में रखकर सूक्ष्म और बादर भेद किये गये हैं। शेष सभी जीव बादर ही होते हैं। इसी प्रकार संज्ञी और असंज्ञी की कल्पना पंचेन्द्रिय जीवों को केन्द्र में रखकर की गयी है। शेष चतुरिन्द्रिय तक वे सभी जीव असंज्ञी होते हैं। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। बादर जीव सूक्ष्म जीवों की तुलना में कम व्याप्त हैं।

सूक्ष्म-बादर, संज्ञी-असंज्ञी सभी जीव उत्पत्ति के समय अपर्याप्त होते हैं। जिस जीव को जितनी पर्याप्तियां प्राप्त होनी चाहिए, जब तक उनका निर्माण नहीं हो पाता तब तक वे अपर्याप्त कहलाते हैं। उन पर्याप्तियों का बन्धकाल पूरा होने से ही वह जीव पर्याप्त होता है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकार सात विकल्पों के अपर्याप्त, पर्याप्त के भेद से जीव के चौदह भेद हो जाते हैं। जीव के इस भेद-प्रभेद को निम्न चार्ट के द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

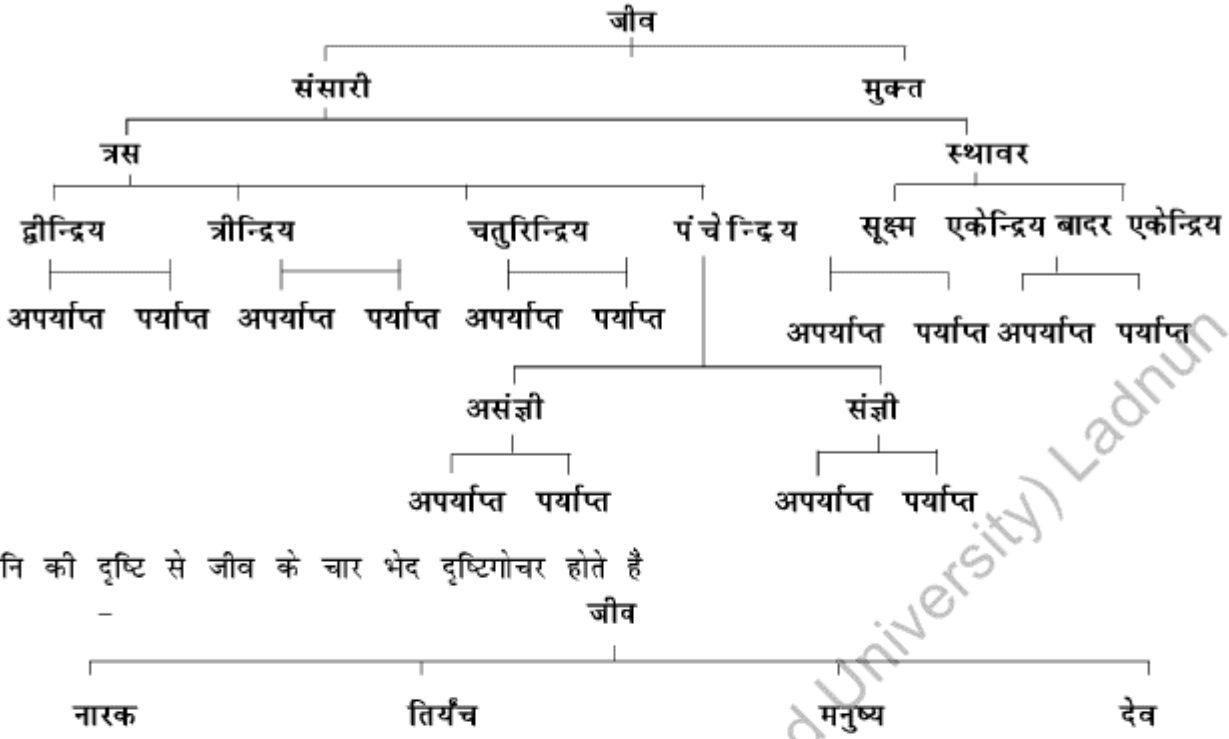

योनि की दृष्टि से जीव के चार भेद दृष्टिगोचर होते है –

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में जीव का बहुत सूक्ष्म विवेचन हुआ है।

3.2 अजीव तत्त्व

जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व अजीव है। न जीव अर्थात् जो जीव नहीं है वह अजीव है । जिसमें चेतना है वह जीव है और जिसमें चेतना नहीं है वह अजीव है। जो उपयोगवान है वह जीव है और जो अनुपयोगवान है वह अजीव है। जिसमें बोध क्रिया है वह जीव है, जिसमें बोध क्रिया नहीं है वह अजीव है। जैनदर्शन जीव के साथ-साथ अजीव को भी नित्य, शाश्वत एवं उत्पत्ति विनाश से रहित सत्ता मानता है। इसीलिए जैनदर्शन को द्वैतवादी भी कहते हैं। सांख्य भी द्वैतवादी है। सांख्य प्रकृति एवं पुरुष की सत्ता को मानता है। पुरुष जीव है तो प्रकृति अजीव है। दोनों के संयोग से ही संसार का उद्भव होता है तो दोनों के वियोग से मोक्ष संभव बनता है। यही स्थिति जैनदर्शन में भी है।

3.2.1 अजीव के प्रकार

अजीव द्रव्य दो प्रकार के—अरूपी और रूपी। जिनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शगुण नहीं हैं, वे अरूपी और जिनमें ये हैं वे रूपी कहलाते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में ये चारों गुण नहीं हैं, अत: ये अरूपी हैं। पुद्गल में ये चारों गुण हैं अत: पुद्गल को रूपी कहा गया है। संक्षेप में अजीव धर्म की विवेचना इस प्रकार है—

धर्मास्तिकाय- गतिसहायो धर्म:—जो जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से अन्नय सहायक होता है, उसे धर्मास्तिकाय कहा गया है।

अधर्मास्तिकाय—स्थितिसहायोऽधर्म:- जो जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से अनन्य सहायक है, उसे अधर्मास्तिकाय कहा गया है।

आकाशास्तिकाय—अवगाहलक्षण आकाश: - जो सब द्रव्यों को अवगाहना देता है अर्थात् अपने में स्थान देता है, उसे आकाशास्तिकाय कहा गया है। यहां अवगाह का अर्थ है-अवकाश या आश्रय। आकाश के दो भेद है लोक व अलोक। दिशाएं आकाश का ही विभाग है।

काल—काल: समयादि:-जिसके कारण वर्तना, परिणाम, क्रिया, प्राचीनता एवं नवीनता संभव है, उसे काल कहते हैं। जैन सिद्धान्त दीपिका में इसका प्रतिपादक सूत्र इस प्रकार है- वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वादिभिर्लक्ष्य:।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पुद्गलास्तिकाय—यह विस्तृत रूपी तत्त्व है। 'पूरणगलनधर्मत्वात् इति पुद्गलः' अर्थात् पुदगल पूरण-गलन स्वभाव वाला है। यह पूरण होते-होते अचित्तमहास्कन्ध का रूप ले लेता है और गलन करते-करते। परमाणु का रूप ले लेता है। परमाणु इसकी सबसे सूक्ष्मतम और अविभाज्य इकाई है।

धर्म, अधर्म और आकाश के तीन-तीन भेद हैं—स्कन्ध, देश और प्रदेश। काल का कोई भेद नही है। पुद्गल के चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। स्पर्शरस ग्न्धवर्णवान् पुद्गलः।

स्कन्ध—परमाणु एकीभावः स्कन्धः। अखण्ड वस्तु को अथवा परमाणुओं के एकीभाव को स्कन्ध कहा जाता है, जैसे पट (वस्त्र)।

देश—बुद्धिकल्पितो वस्त्वंशो देशः।स्कन्ध का छोटा विभाग देश कहलाता है। जैसे वस्त्र का कोई भाग।

प्रदेश—निरंशः प्रदेशः। वस्तु के संलग्न उसके अविभाज्य भाग को प्रदेश कहते हैं। यह अपने प्रदेशी से कभी अलग नहीं होता।

परमाणु—अविभाज्य परमाणुः। पुद्गल का वह अविभाज्य हिस्सा परमाणु है, जिसका पुनर्विभाजन संभव नहीं है। यह अविभाज्य एवं निरवयव होता है।

प्रश्न यह उठता है कि परमाणु और प्रदेश में क्या अन्तर है? परमाणु स्कन्ध से पृथक् हो सकता है परन्तु प्रदेश स्कन्ध से कभी अलग नहीं होता है।

अजीव द्रव्य को निम्न चार्ट द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है—

3.3 पुण्य तत्त्व

नवतत्त्वों में जीव और अजीव के बाद तीसरा स्थान पुण्य का है। **'शुभं कर्म पुण्यम्'** शुभ कर्मों को पुण्य कहा गया है।वास्तविक परिभाषा के अनुसार सात वेदनीय आदि शुभ कर्मो को पुण्य कहा जाता है। पहले बंधे हुए शुभ कार्य जब शुभ फल देते है तो वे पुण्य कहलाते है। किंतु कारण में कार्य का उपचार होने से जिन-जिन निमित्तों से शुभकर्म का बंध होता है, उन्हें भी पुण्य माना जाता है। जैनदर्शन में पुण्य को भी बन्धनकारी माना गया है। आचार्य भिक्षु के अनुसार पुण्य और पाप दोनों जंजीर हैं। दोनों बांधने का कार्य करते हैं। एक सोने की जंजीर है और दूसरी लोहे की पर दोनों बांधती ही हैं। पुण्य को सोने की जंजीर माना गया है तो पाप को लोहे की जंजीर। तत्त्व धर्माविनाभावि-वह (पुण्य) धर्म का अविनाभावि है- धर्म के बिना अकेला नहीं होता।

पुण्य के भेद—पुण्य-पदार्थ, योग और विनय से होता है, इसलिए पुण्य को निम्न तीन प्रकार का माना जा सकता है—

1. पदार्थ पुण्य, 2. योग पुण्य, 3. विनय पुण्य।

1. पदार्थपुण्य—पुण्य के बंधन में चूंकि पदार्थ निमित्त होता है, इसलिए इसे पदार्थ पुण्य कहा गया है। यह पांच प्रकार का है—

1. अन्न पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले आहार दान के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में अन्न पुण्य है।

2. पान पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले (पानक) पानी आदि के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में जल पुण्य है।

3. लयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले मकान आदि के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में लयन पुण्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. शयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पाट बाजोट आदि के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में शयन पुण्य है।

5. वस्त्र पुण्य-संयमी पुरुष को दिये जाने वाले वस्त्र के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में वस्त्र पुण्य है।

2. योगपुण्य—यह पुण्य तीन प्रकार का है—

1. मनपुण्य—मन की शुभ प्रवृत्ति से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में मन पुण्य है।

2. वचनपुण्य—वचन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में वचन पुण्य है।

3. कायपुण्य—शरीर की शुभ प्रवृत्ति से होने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में काय पुण्य है।

3. विनयपुण्य—पंचपरमेष्ठी आदि महापुरुषों को किये जाने वाले नमस्कार के निमित्त से बंधने वाले शुभ कर्म उदयावस्था में नमस्कार पुण्य है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि-पुण्य का बंध सत्प्रवृत्ति से होता है। सत्प्रवृत्ति मोक्ष का उपाय है अत: वह धर्म है। धार्मिक प्रवृत्ति के साथ ही पुण्य का बंध होता है। जिस प्रवृत्ति में धर्म नहीं होता वहां पुण्य बंध भी नहीं होता। यद्यपि पुण्य बंध के प्रयोजन से धार्मिक प्रवृत्ति करना वर्जित है। आत्मविशुद्धि के प्रयोजन से धार्मिक आचरण किया जाए तो पुण्य बंध वहां सहज रूप में होगा ही। जिस प्रकार अनाज के साथ भूसा होता ही है उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य होता है।

3.4 पाप तत्त्व- अशुभ कर्म पापम्- अशुभ कर्म को पाप कहते हैं।

पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व पाप है। पुण्य यदि शुभ कर्म है तो पाप अशुभ कर्म है। पुण्य जहां शुभ प्रवृत्ति के द्वारा होता है, वहीं पाप अशुभ या असत् प्रवृत्ति से होता है। पाप जीव की अधोगति का कारण होता है। असद आचरण आत्मा को पाप की ओर ले जाता है। ठाणं में अठारह प्रकार के पाप माने गये हैं—1. प्राणातिपात (हिंसा), 2. मृषावाद (झूठ), 3. अदत्तादान (चोरी), 4. मैथुन (इन्द्रिय अनियंत्रण), 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह (झगड़ा), 13. अभ्याख्यान (मिथ्या आरोप), 14. पैशुन्य (चुगली), 15. पर-परिवाद (निन्दा), 16. रति-अरति, 17. माया-मृषा, 18. मिथ्या दर्शन शल्य। इनका विवरण इस प्रकार है—

1. प्राणातिपात—प्राण वधमूलक अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म। प्रमादवश प्राणों का हरण करना ही प्राणातिपात (हिंसा) है।

2. मृषावाद—असत्य वचन रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म मृषावाद है।

3. अदत्तादान—अदत्त (न दी गयी) वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। इस प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म ही अदत्तादान है।

4. मैथुन—अब्रह्मचर्य के सेवन से बंधने वाला पापकर्म मैथुन है। रागवश नर-नारी के संयोग तथा सहवास को मैथुन कहा गया है।

5. परिग्रह—**'मूर्च्छाभावो परिग्रह।'** अर्थात् मूर्च्छाभाव को ही परिग्रह कहा गया है। परिग्रह के दो प्रकार हैं—बाह्य और आंतरिक। चल-अचल सम्पत्ति को बाह्य परिग्रह तथा प्रमाद, कषाय आदि को आंतरिक परिग्रह कहा गया है।वस्तु संग्रह या ममत्व रुप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

6. क्रोध—उत्तेजना से बंधने वाला पापकर्म क्रोध है। क्रोध से जीव अभिशप्त होता रहता है।

7. मान—अभिमान से बंधने वाला पापकर्म मान है। यानी जीव अभिमानवश अपने आप को सबसे बड़ा समझता है।

8. माया—वंचना करने, ठगने, धोखाधड़ी करने से बंधने वाला पापकर्म माया है। इससे ऋजुता की हानि होती है।

9. लोभ—लालसा, अतिइच्छा से बंधने वाला पापकर्म लोभ है। लोभ से परिग्रह होता है।

10. राग—आसक्ति युक्त प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म राग है। यह बन्ध का मूल हेतु है। माया और लोभ अव्यक्त रूप से इसमें रहते हैं।असंयम मूलक सुख वृद्धि का अभिप्राय रागात्मक है।

11. द्वेष—द्वेषात्मक, घृणात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म द्वेष है। क्रोध और मान इसमें अव्यक्त रूप से रहता है।दु:खाभिप्राय द्वेषात्मक है।

12. कलह—झगड़ालू वृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13. अभ्याख्यान—मिथ्या दोषारोपण करना ही अभ्याख्यान है अर्थात् जिसमें जो बुराई न हो उसमें उस बुराई का आरोप करना ही अभ्याख्यान है। अर्थात् मिथ्या दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

14. पैशुन्य—चुगली क रने की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म।

15. पर-परिवाद—दूसरों की निन्दा करना तथा उसे अन्य स्रोतों की दृष्टि में गिराना ही परपरिवाद है।

16. रति-अरति—असंयम में रूचि व संयम में अरुचि के निमित्त से बंधने वाला पाप कर्म।

17. माया-मृषा—छल पूर्वक असत्य संभाषण की प्रवृत्ति से बंधने वाला पाप कर्म माया-मृषा पाप है। इस पाप में दो दोषों का एक साथ सेवन होता है।

18. मिथ्यादर्शन शल्य—विपरीत तत्त्व श्रद्धा मिथ्यादर्शन है। यह एक शल्य रूप है। इस क्रिया से बंधने वाला पाप ही मिथ्या दर्शन शल्य है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त वर्गीकरण वस्तुत: पाप के कारणों की तालिका है। कारण में कार्य का उपचार कर असत् प्रवृत्ति को भी 'पाप' कह दिया जाता है।

उपर्युक्त आठरह पापों को कारण के आधार पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम पांच पाप को अव्रतपाप, छ: से ग्यारह को कषाय पाप, बारह से पन्द्रह को वाक् पाप और अंतिम तीन को मन पाप कहा जा सकता है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

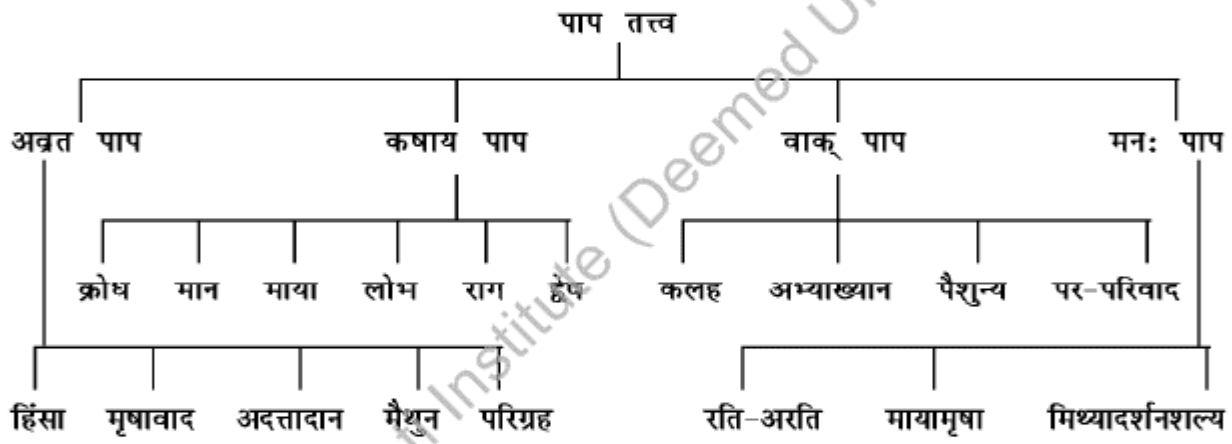

यहां अठारह पापों का उल्लेख है। इनके अलावा भी ऐसा असत् प्रवृत्तियां है जिनसे पाप का बंध होता है। वे भी पाप के अन्तर्गत ही आएगी।

3.5 आस्रवतत्त्व

जैन दर्शन के अनुसार जीव और अजीव स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हैं। इनमें सम्बन्ध स्थापित करने वाला कोई तत्त्व होना आवश्यक है। इनमें जो सम्बन्ध स्थापित कराता है, वही आस्रव है। इसलिए आस्रव को कर्मों के आने का द्वार भी कहते हैं। आश्रव जीव का परिणाम है इसलिए वह जीव है।

कर्मकिर्षणहेतुरात्मपरिणाम आश्रव: कर्म के आकर्षण के हेतुभूत आत्म परिणामों को आश्रव कहते है। जिस प्रकार तालाब में जल आने का कारण नाला है, नौका में जल प्रवेश का कारण छिद्र है और मकान में प्रवेश करने का माध्यम दरवाजा है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशों में कर्म के आगमन का मार्ग आस्रव है। आस्रव तत्त्व को द्वार भी कहा जाता है क्योंकि इसी रास्ते से कर्म आत्मा में सहजता से प्रवेश करता है। जब तक यह दरवाजा खुला रहता है, तब तक आत्मा और शरीर का सम्बन्ध बना रहता है। आस्रव कर्मबंध का हेतु है, अत: बन्धन में सहायक और मोक्ष के लिए बाधक है और शुभ योग से निर्जरा होती है इस दृष्टि से मोक्ष में साधक भी है। आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का मूल कारण आस्रव ही है। यह सम्बन्ध आत्मा और शरीर दोनों की तरफ से होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने इसे समझाने के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। एक तालाब में अथाह जल भरा हुआ है। पानी के उस अथाह प्रवाह में एक व्यक्ति ने अपनी नौका खड़ी कर दी। उस नौका में सैकड़ों छेद हैं। भगवान् महावीर के अनुसार जीव एक नौका के समान है। उसके सैकड़ों छेद आस्रव हैं। पुद्गल की प्रकृति है छिद्र में भर जाना। पुद्गल सर्वत्र फैले हुए हैं और आस्रव द्वार से आत्मा में प्रविष्ट होते रहते हैं। ठाणं में इस आस्रव केपांच भेद बतलाये गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्हीं पांच आस्रवों को तत्त्वार्थसूत्र में बन्धन का कारण मानते हुए कहा गया ''मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा: बंधहेतव:''। आस्रव के मूल पांच भेद हैं और शेष पन्द्रह भेद योग आश्रव के अवान्तर भेद है अत: आश्रव के कुल बीस भेदों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

1. मिथ्यात्व आस्रव, 2. अव्रत (अविरति) आस्रव, 3. प्रमाद आस्रव, 4. कषाय आस्रव, 5. योग आस्रव, 6. प्राणातिपात आस्रव, 7. मृषावाद आस्रव, 8. अदत्तादान आस्रव, 9. मैथुन आस्रव, 10. परिग्रह आस्रव, 11. श्रोत्रेन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 12. चक्षुरिन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 13. घ्राणेन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 14. रसनेन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 15. स्पर्शनेन्द्रिय प्रवृत्ति आस्रव, 16. मन प्रवृत्ति आस्रव, 17. वचन प्रवृत्ति आस्रव, 18. काय प्रवृत्ति आस्रव, 19. भण्डोपकरण रखने में अयतना करना आस्रव, 20. सूची कुशाग्र मात्र दोष सेवन करना आस्रव।

यहां आश्रव के पांच भेदों पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है-

1. मिथ्यात्व आस्रव—अतत्वे तत्वश्रद्धा मिथ्यात्वम् ।वीतराग द्वारा बताये गये तत्त्वों पर श्रद्धा न होना अर्थात् विपरीत तत्त्व श्रद्धा का नाम ही मिथ्यात्व आस्रव है। जीव को विकृत करने वाले मोह परमाणुओं के उदय से जो तत्त्व नहीं है उसे तत्त्व समझा जाता है और जो तत्त्व है उसे अतत्त्व समझा जाता है। तत्व-अतत्व का सम्यग बोध न होने से संसार का मार्ग मोक्षमार्ग बन जाता है और मोक्षमार्ग संसार का मार्ग बन जाता है। यह योग दर्शन का क्लेश और बौद्ध तथा वेदान्त की अविद्या ही है। इसके पांच भेद है।

2. अव्रत आस्रव—अप्रत्याख्यानमविरति:।चारित्रमोह के कारण यह अव्रत आस्रव होता है। चारित्र मोह जब तक सक्रिय रहता है तब तक अंश रूप में या पूर्ण रुप में पापकारी प्रवृत्ति के त्याग की भावना नहीं रहती। अर्थात् मिथ्यात्व आदि पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग न कर पाना ही अव्रत है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पांच आस्रव सेवन का अत्याग ही अव्रत आश्रव है। अव्रत आश्रव देशव्रत और सर्वव्रत दोनों का बाधक है।

3. प्रमाद आस्रव—अनुत्साह: प्रमाद:। अध्यात्म में प्रयत्न न कर पाना ही प्रमाद है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अध्यात्म के प्रति आन्तरिक अनुत्साह होना ही प्रमाद है। यह मोह कर्म के परमाणु से संभव होता है। इससे जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में प्रमाद करता है।

4. कषाय आस्रव—रागद्वेषात्मकोताप: कषाय:।रागद्वेषात्मक उत्ताप का नाम कषाय है। यह वीतराग चारित्र की उपलब्धि में बाधक है चारित्र मोह का उदयकाल इसका अस्तित्व काल है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि कषाय मोहकर्म के उदय से होने वाला जीव का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम ही कषाय है।

5. योग आस्रव—योग का अर्थ है प्रवृत्ति। इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है **'कायवाङ्मनो व्यापारो योग:'** अर्थात् शरीर, वाणी एवं मन के व्यापार को योग कहा गया है। जब तक इनके व्यापार चलते रहते हैं तब तक बन्धन बना रहता है। इनके व्यापार दो प्रकार के होते हैं—शुभ एवं अशुभ (शुभोऽशुभश्च)। इसी कारण से योग के शुभयोग एवं अशुभयोग के रूप में दो भेद होते हैं।

पांच इन्द्रियों के पांच आस्रव हैं। यदि इन्द्रियां विषयों (रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द) में राग-द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति करती हैं तो यह आस्रव होता है। शब्द में आसक्ति से हरिण एवं सर्प का वध होता है। रूप में आसक्ति से पतंगे की मौत होती है। यह दीपक पर न्यौछावर हो जाता है। गन्ध में आसक्ति से भ्रमर कमल में बन्द होकर गजराज द्वारा मसल दिया जाता है। रस में आसक्ति से मछली जाल में फंस जाती है और स्पर्श में आसक्ति से बलवान गजराज भी बन्धन में बंद हो जाता है। यदि एक इन्द्रिय में आसक्ति से यह दशा होती है तो पांचों इन्द्रियों में आसक्ति से क्या दशा होगी? अत: इन्द्रियों के पांचों आस्रवों पर नियंत्रण होना चाहिए।यत्रशुभयोगस्तत्र नियमेन निर्जरा-जहां शुभ योग होता है वहां निर्जरा अवश्य होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसी प्रकार वस्त्र, पात्र अथवा अन्य किसी भी उपकरण को या संयम के साधन को यतनापूर्वक न रखना एवं न उठाना ही भण्डोपकरण आस्रव है। सूची एवं कुश के अग्रभाग जितनी छोटी वस्तु को भी अयतना से रखना और उठाना सूची कुशाग्रमात्र आस्रव है।

आस्रव के 20 भेदों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. बन्धन के कारणरूप आस्रव के 5 भेद—1. मिथ्यात्व, 2. अव्रत, 3. प्रमाद, 4. कषाय, 5. योग।

2. अव्रत आस्रव के 5 भेद—1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह

3. इन्द्रिय आस्रव के 5 भेद—1. श्रोत्रेन्द्रिय, 3. चक्षुरिन्द्रिय, 3. घ्राणेन्द्रिय, 4. रसनेन्द्रिय, 5. स्पर्शनेन्द्रिय

4. योग आस्रव के 3 भेद—1. मनोयोग, 2. वचनयोग, 3. काययोग

5. अयतना आस्रव के दो भेद—1. भण्डोपकरण आस्रव, 2. सूची-कुशाग्र मात्र आस्रव

बोध प्रश्न-

आस्रव किसे कहते है? इसका निरोध क्यों आवश्यक है?

3.6 संवर—जैनदर्शन में आस्रव के प्रतिपक्षी तत्त्व को संवर कहा गया है। आश्रव कर्म-बंध का हेतु है। आश्रव का निरोध ा संवर है। **"आस्रव निरोधः संवरः।"** (जैन सिद्धान्त दीपिका) अर्थात् जो शुभ, अशुभ कर्मों के आगमन के लिए द्वार रूप है, वह आस्रव है और आस्रव के निरोध को ही संवर कहते हैं। बाहर से भीतर आने वाली वस्तु को रोक देना ही संवर है। संवर मोक्ष का कारण है अतः बंधन एवं बन्धन के साधनों को रोकना ही संवर है। आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आना-जाना होता रहता है, उन कारणों को दूर कर देने से कर्मों का आना-जाना बन्द हो जाता है। यही संवर है एक दृष्टि से संवर के दो प्रकार हैं— 1. द्रव्य संवर, 2. भाव संवर ।

पुद्गलमय कर्मों के प्रवाह का रुक जाना द्रव्य संवर है और कर्मों के कारणभूत राग-द्वेष भावों का रुक जाना भाव संवर है।संवर के बीस भेद है।

1. सम्यक्त्व संवर—विपरीत श्रद्धान का त्याग और यथार्थ श्रद्धान का नाम ही सम्यक्त्व संवर है। जीव, अजीव आदि नवतत्त्वों के बारे में यथार्थ श्रद्धा का होना ही सम्यक्त्व संवर है। यह मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी है। तत्वे तत्वश्रद्धा सम्यक्त्वम्।

2. व्रत संवर—सावद्यवृत्तिप्रत्याख्यानं विरतिः। सावद्यवृत्ति का त्याग ही व्रतसंवर है। इसके दो भेद हैं—देशव्रत और सर्वव्रत। पापयुक्त प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग देशव्रत है और इनका जीवन पर्यन्त सम्पूर्ण रूप से त्याग सर्वव्रत संवर है।

दूसरे शब्दों में सर्व सावद्य प्रवृत्ति का त्याग सर्वव्रत संवर और अंशतः त्याग देशव्रत संवर है। यह अव्रत आस्रव का प्रतिपक्षी है।

3. अप्रमाद संवर—अध्यात्मलीनता अप्रमादः- अध्यात्म लीनता को अप्रमाद कहा जाता है। आत्म-प्रदेश स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद संवर है। दूसरे शब्दों में स्वभाव के प्रति होने वाली सम्पूर्ण जागरूकता का नाम अप्रमाद संवर है। यह प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी है।

4. अकषाय संवर—क्रोधाद्यभावोऽकषायः- क्रोध आदि के अभाव को अकषाय कहते है। आत्म-प्रदेश स्थित कषाय का क्षय हो जाना अकषाय संवर है। क्रोध, मान, माया, लोभ को सर्वथा क्षीण कर देना ही अकषाय संवर है। यह कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी है। यह वीतराग अवस्था में ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक रहता है।

5. अयोग संवर—अप्रकम्पोऽयोगः- अप्रकम्प अवस्था को अयोग कहते है। यह चौदहवें गुणस्थान मे होता है। योग का निरोध होना ही अयोग संवर है। अयोग संवर की स्थिति में पहुंचने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है। यह योग आस्रव का प्रतिपक्षी है।

आस्रव के बीस भेदों की तरह ही संवर के भी बीस भेद इस प्रकार हैं—

1. मोक्ष के कारणभूत संवर के पांच भेद—1. सम्यक्त्व, 2. व्रत, 3. अप्रमाद, 4. अकषाय, 5. अयोग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. व्रत संवर के 5 भेद— 1. प्राणातिपात विरमण 2. मृषावाद विरमण, 3. अदत्तादान विरमण , 4. अब्रह्मचर्य विरमण, 5. परिग्रह विरमण

3. इन्द्रिय संवर के 5 भेद— 1. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, 2.चक्षुरिन्द्रिय निग्रह, 3. घ्राणेन्द्रिय निग्रह, 4.रसनेन्द्रिय निग्रह, 5. स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह

4. योग संवर के 3 भेद— 1. मन निग्रह, 2. वचन निग्रह, 3. काय निग्रह।

5. यतना संवर के 2 भेद— 1. भण्ड-उपकरण रखने मे अयत्ना न करना, 2. सूची-कुशाग्रमात्र मात्र दोष सेवन न करना।

3.7 निर्जरा तत्त्व— मोक्ष की साधना में एक महत्त्वपूर्ण साधक तत्त्व हैं— निर्जरा। इसका अर्थ है— झड़ जाना, दूर हो जाना, निकल जाना। प्रश्न उठता है कि किन चीजों का निकल जाना निर्जरा है। उत्तर के रूप में कहा जा सकता है कि कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदशों से पूरी तरह से निकल जाना ही निर्जरा है। जैन सिद्धान्त दीपिका मेनिर्जरा को परिभाषित करते हुए कहा गया है—तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा', 'उपचारात्तपोऽपि' अर्थात् तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर आत्मा की जो निर्मलता होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। यह मोक्ष से पूर्व हो रहा है। अत: आत्मा से सम्बद्ध कर्मों का अंश रूप में धीरे-धीरे क्षय होना निर्जरा है। निर्जरा भी एक प्रकार से मोक्ष है। पूर्व मोक्ष को निर्जरा और उत्तर मोक्ष को मोक्ष ऐसा भी कह सकते हैं।

निर्जरा का आभ्यन्तर कारण तप है। तत्त्वार्थ में भी कहा गया है—'तपसा निर्जरा' अर्थात् तपस्या ही निर्जरा का कारण है। बिना तप के निर्जरा संभव नहीं है।

निर्जरा के भेद— पूर्व मे यह कहा जा चुका है कि तपस्या ही निर्जरा का कारण है और कारण मे कार्य का उपचार होने से तपस्या को भी निर्जरा कहते हैं। अत: तप के बारह भेद ही निर्जरा के बारह भेद हैं। मुख्य रूप से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है—

1. बाह्य तप, 2. आभ्यन्तर तप।

1. बाह्य तप— जो तप बाह्य रूप से दिखाई देता है, विशेष रूप से स्थूल शरीर को प्रभावित करता है, वह बाह्य तप है। इस तप के द्वारा शरीर पर स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बाह्य तप के छ: भेद इस प्रकार हैं—

1. अनशन	2. ऊनोदरी (अवमौदर्य)	3. भिक्षाचरी (वृत्ति संक्षेप)
4. रसपरित्याग	5. कायक्लेश	6. प्रतिसंलीनता।

इनमें खाद्य संयम को प्रधानता दी गयी है। बाह्य तप के प्रथम चार भेदों में किसी न किसी रूप में खाद्य संयम पर ही बल दिया गया है।

1. अनशन— आहारपरिहारोऽनशनम्-आहार का परिहार अनशन कहलाता है। न अशन, अनशन अर्थात् भोजन का त्याग। उपवास और उसके आगे जितनी तपस्या की जाती है, वह इसके अंतर्गत है। जैनदर्शन में आजीवन आहार त्याग की भी स्वीकृति है, जिसे संथारा कहा जाता है। यह अनशन का ही एक रूप है।

2. ऊनोदरी— "अल्पत्वमूनोदरिका"- आहार पानी वस्त्र एवं कषाय की अल्पता करना। इसमें ऊन का अर्थ है कमी। भोजन व पानी में कमी करने को साधना अनोदरी कही गयी है। भूख से कम खाना तथा छोटी-छोटी तपस्या करना भी ऊनोदरी है। उपवास से छोटी तपस्या नवकारसी, प्रहर, एकाशन आदि इसी बाह्यतप के अंतर्गत माने जाते हैं।वस्त्र पात्र आदि उपकरणों एवं कषाय की अल्पता भी ऊनोदरी तप में ही अन्तर्गर्भित है।

3. भिक्षाचरी— "नानाभिग्रहाद् वृत्यवरोधो-वृत्तिसंक्षेप:"- इसमें विविध प्रकार की प्रतिज्ञाओं से अपनी खाद्यविधि को और अधिक सीमित किया जाता है। आहार ग्रहण करने हेतु निकला हुआ साधु जब कोई प्रतिज्ञा लेकर निकलता है कि इस विधि ा से मिलने पर ही आहार लूंगा अन्यथा नहीं। यही भिक्षाचरी है। इसे वृत्तिसंक्षेप भी कहते हैं।

4. रसपरित्याग— "विकृतेर्वजनं रसपरित्याग:"-भोजन में दूध, दही, घी आदि रसीले खाद्य पदार्थों का परित्याग करना रस परित्याग है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. कायक्लेश — "कायोत्सर्गाद्यासनकरणं कायक्लेश:"-कायक्लेश से तात्पर्य शरीर को साधना है। जब अनेक प्रकार के आसनों से शरीर को नियंत्रित करने का कार्य किया जाता है तो इसे ही कायक्लेश कहते हैं। इससे एक ही आसन में घंटो तक बैठने का अभ्यास सध जाता है।

6. प्रतिसंलीनता — "इन्द्रियादीनां बाह्यविषयेभ्य: प्रतिसंहरणं प्रतिसंलीनता।" इन्द्रिय और मन का बाह्य विषयों से प्रतिसंहरण करना प्रतिसंलीनता है। यह इन्द्रिय, मन आदि की बाह्य प्रवृत्ति को नियंत्रित कर अन्तर्मुखी बनाता है। अत: इन्द्रिय एवं मन के नियंत्रण की दृष्टि से प्रतिसंलीनता नामक बाह्य तप का विशेष महत्व है।

2. आभ्यन्तर तप — बाह्य तप के छ: भेदों की चर्चा के बाद अब आवश्यक प्रतीत होता है कि आभ्यन्तरिक तप की चर्चा करें। आभ्यन्तरिक तप से तात्पर्य ऐसे तप से है जो अन्त:शरीर अर्थात् सूक्ष्म शरीर को अधिक तपाता है, जिससे कर्मशरीर तपता है अर्थात् क्षीण होता है। इस तप का स्थूल शरीर पर कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह अन्दर ही अन्दर कर्म शरीर को प्रभावित करता रहता है। मोक्ष साधना का अन्तरंग कारण होने से इसे आभ्यन्तर तप कहा जाता है। इसके भी छ: प्रकार हैं — 1. प्रायश्चित 2. विनय 3. वैयावृत्य 4. स्वाध्याय 5. ध्यान 6. व्युत्सर्ग।

1. प्रायश्चित — "अतिचार विशुद्धये प्रयत्न प्रायश्चितम्"-अतिचार दोष की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे प्रायश्चित कहते है। प्रायश्चित वही स्वीकार कर सकता है, जो सरल हृदय व ऋजु होता है और जिसके मन में अपनी आत्मा को निर्मल बनाने की इच्छा होती है।

प्राश्चित के दस प्रकार है-

1. **आलोचना**- गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना।
2. **प्रतिकमण** - पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिथ्या में दुष्कृतम्' - मेरे पाप निष्फल हों- ऐसा कहना तथा कायोत्सर्ग आदि करना और आगे पापकर्मों से दूर रहना।
3. **तदुमय**- आलोचन एवं प्रतिक्रमण दोनों करना।
4. **विवेक**- आए हुए अशुद्ध आहार आदि का उत्सर्ग करना।
5. **व्युत्सर्ग**- चतुर्विंशति स्तव के साथ कायोत्सर्ग करना।
6. **तप**- उपवास आदि करना।
7. **छेद**- प्रायश्चित स्वरूप संयमकाल को छेदकर कम कर देना।
8. **मूल**- पुन: व्रतारोपण करना। नयी दीक्षा देना।
9. **अवस्था**- तपस्या पूर्वक व्रतारोपण करना।
10. **पाराञ्चित**- अवहेलनापूर्वक व्रतारोपण करना।

2. विनय — "अनाशातना बहुमानकरणं विनय:"- विनय के दो अर्थ है-कर्मो का अपनयन एवं बड़ों को बहुमान देना ही विनय है। इसे प्रवृत्यात्मक विनय कहा जा सकता है। विनय का निवृत्तिपरक अर्थ है — आशातना न करना। आशातना से तात्पर्य है — असद् व्यवहार। आशातना का अभाव और बहुमान का भाव ही विनय है। इससे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की विशेष शुद्धि होती है तथा मन, वचन एवं काय की पवित्रता सधती है।

विनय का क्षेत्र बहुत व्यापक है। हम बोलचाल की भाषा मे विनय का अर्थ गुरुजनों के प्रति सम्मान का भाव करते है वह मात्र उपचार विनय है। यहां विनय के सात प्रकारों का उल्लेख करना ज्यादा प्रासंगिक होगा ताकि विनय के व्यापक स्वरूप की झलक प्राप्त की जा सके।

विनय के सात प्रकार ये है- 1. ज्ञानविनय 2. दर्शनविनय 3. चारित्रविनय 4. मन विनय 5. वचनविनय 6. कायविनय 7. लोकोपचार विनय।

3. वैयावृत्य — "परार्थव्यावृत्तिर्वैयावृत्यम्"-बिना किसी स्वार्थ के अंतर्मन से सेवा करना ही वैयावृत्य है। इसमें सहयोग का भाव प्रबल रहता है। इस तप की आराधना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, रोगी नवदीक्षित आदि की आवश्यकताओं को जानकर सेवाभावना और कर्त्तव्यभावना की प्रेरणा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने से ही वैयावृत्य किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. स्वाध्याय — "श्रुतास्याध्ययनं स्वाध्याय:"-स्व अर्थात् आत्मा एवं अध्याय अर्थात् अध्ययन अर्थात् आत्मा से सम्बंधित शास्त्रों का अध्ययन ही स्वाध्याय है। इस प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन आत्मलीनता की स्थिति में ही यह संभव हो सकता है। सही अर्थों में सत् शास्त्रों के अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।आत्मा से हटकर पदार्थ जगत की और धकेलने वाला अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता।

5. ध्यान — "एकाग्रे मन: सन्निवेशनं योग निरोधो वा ध्यानम्"-किसी एक आलम्बन पर मन को स्थापित करने अथवा मन, वचन एवं काय के निरोध को ध्यान कहा जाता है। ध्याता एवं ध्येय के बीच पूर्ण रूप से तादात्म्य घटित होने की स्थिति में ही ध्यान हो पाता है, अन्यथा नहीं। ध्यान चार प्रकार के हैं — आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान। अंतिम दो ध्यानों को अच्छा (प्रशस्त) कहा गया है।प्रथम दो अप्रशस्त है, इसलिए तप नहीं है।

6. व्युत्सर्ग — "शरीरकषायादे: परित्यागो व्युत्सर्ग:"-व्युत्सर्ग से तात्पर्य त्याग करने या छोड़ने से है। यह अपने शरीर का हो सकता है, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का हो सकता है, किसी के सहयोग का हो सकता है और भोजन पानी का हो सकता है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं रहता है।कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग तप है।

निर्जरा के उपर्युक्त 12 भेदों के अतिरिक्त एक दूसरे दृष्टिकोण से निर्जरा के दो भेद किये गये हैं — 1. सकामनिर्जरा, 2. अकामनिर्जरा। मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त जो निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है। निर्जरा के बारह भेदों को प्रस्तुत चार्ट से भली भांति समझा जा सकता है।

जिस प्रकार बाह्य तप करते समय आभ्यन्तर तप किया जा सकता है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तप-साधना के काल में बाह्य तप भी हो सकता है। क्योंकि मूलत: तप एक प्रकार का है। निमित्त भेद से इसके बारह भेद किये गये हैं।

3.8 बन्ध

बन्ध को परिभाषित करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है — **'सकषायत्वात् जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलान आदत्ते स बन्ध:'** अर्थात् कषाय सहित जीव का कर्मपुद्गलों से आबद्ध होना ही बन्ध है।जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार -कर्मपुद्गलादानं बन्ध:-कर्मपुद्गलों के ग्रहण को बन्ध कहा जाता है। बन्ध का शाब्दिक अर्थ है — परस्पर संयुक्त होना। जीव और कर्मपुद्गल के सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। जीव और कर्म क्रमश: चेतन और जड़ होने से परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ हैं। फिर भी बन्ध में ये एकीभूत हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में आत्मा और कर्म की सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं होती। वे इस प्रकार एकमेक हो जाते हैं, जैसे तिलों में तेल और दूध में घी होता है। बन्ध के कारण ही आत्मा अनन्त संसार में, अनन्तकाल से परिभ्रमण करता रहता है। जन्म और मरण करता है। आत्मा और कर्मों का यह सम्बंध प्रवाह रूप से अनादि है। संसारी जीव के सामने ऐसा अवसर कभी नहीं आता, जब वह कर्मों के बन्धन से मुक्त रहता हो।

3.8.1 बन्धन के प्रकार

बन्ध के मुख्यतया चार प्रकार हैं, जो इस प्रकार हैं — 1. प्रकृति बन्ध, 2. स्थिति बन्ध, 3. अनुभाग बन्ध, 4. प्रदेश बन्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. प्रकृति बन्ध—सामान्योपात्तकर्मणां स्वभाव: प्रकृति:। सामान्य रूप से ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों का जो स्वभाव होता है, उसे प्रकृति बन्ध कहते हैं। आत्मा से सम्बंधित होने वाले कर्मों में किस कर्म का क्या स्वभाव है, वह आत्मा के किस गुण को प्रभावित करेगा, इस प्रकार के वर्गीकरण का नाम ही प्रकृति बन्ध है। जैसे ज्ञान को रोकना ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव है और दर्शन को रोकना दर्शनावरणीय कर्म का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र, आयुष्य एवं अन्तराय ये आठ मूल प्रकृत्तियां हैं। इनके उपभेद उत्तर प्रकृति कहलाती है।उत्तर प्रकृतियां संख्या में सत्तानवें है।

2. स्थिति बन्ध—**'कालावधारणं स्थिति:'** अर्थात् कौन कर्म कितने समय तक आत्मा से सम्बद्ध रहेगा, किस अवधि के बाद वह अपना फल देगा, ऐसी व्यवस्था का नाम स्थिति बन्ध है। शास्त्रों में कर्म प्रवृत्तियों की उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति की विस्तार से चर्चा है।

3. अनुभाग बन्ध—**'विपाकोऽनुभाग:'** अर्थात् कर्मों के विपाक (फल) को अनुभाग बन्ध कहते हैं। रस, अनुभाग, अनुभाव और फल ये सब पर्यायार्थी शब्द हैं। विपाक दो प्रकार का होता है—1. अगर तीव्र परिणामों से कर्म बंधे होंगे तो उसका विपाक तीव्र होगा, 2. अगर मन्द परिणामों से कर्म बंधे होंगे तो उसका विपाक मन्द होगा। यथार्थ कर्म जड़ हैं तो भी पथ्य एवं अपथ्य आहार की तरह उनसे जीवों को क्रियाओं के अनुसार फल की प्राप्ति हो जाती है। कर्म फल के लिए किसी ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं है।

4. प्रदेश बन्ध—**'दलसंचय: प्रदेश:'** अर्थात् कर्मों के दलसंचय को प्रदेशबन्ध कहते हैं। दूसरे शब्दों में कर्मवर्गणा का आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध होना ही प्रदेश बन्ध है। इन चारों में मूल है प्रदेशबंध। शेष तीनों उसी के सहचारी हैं।

3.8.2 बन्ध के हेतु

बन्ध है तो इसका कोई न कोई कारण होना चाहिए। दर्शनशास्त्र का नियम है कि कोई घटना अकारण नहीं घटती है। हर घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बन्ध है तो इसका भी कोई कारण होना चाहिए। पहले कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मप्रदेशों में आगमन होता है और उसके पश्चात् बन्ध होता है। कर्मपुद्गलों का आगमन आस्रव बिना नहीं हो सकता। अत: बन्ध का हेतु आस्रव को माना जा सकता है। मिथ्यात्व आदि हेतुओं के अभाव मे कर्मपुद्गलो का प्रवेश नहीं होता है और उनके अभाव मे बन्ध भी नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के कारण है। यह भी उल्लेख मिलता है कि प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से होते हैं और स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्ध कषाय के कारण होते हैं।

3.9 मोक्ष–कृत्स्नकर्मक्षयादात्मन स्वरूपावस्थानं मोक्ष:–सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने से आत्मा की अपने स्वरुप में अवस्थिति।जैसे आत्मा और कर्मपुद्गलों का संयोग बन्ध है, उसी प्रकार उनका वियोग होना ही मोक्ष है। यह आत्मा की परम शुद्ध अवस्था है। संसार के समस्त बन्धनों का नष्ट हो जाना मोक्ष है। दूसरे शब्दों मे समस्त कर्मपुद्गलों के क्षय को मोक्ष कहा जाता है। कर्मपुद्गलों का आत्मा की ओर प्रवाह निरन्तर रहता है। इस प्रवाह को सबसे पहले रोकना होता है। जब तक यह प्रवाह नहीं रूक सकता तब तक आत्मा के मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसे वर्षा आने पर पानी कमरे में आ रहा हो और आप उसे निकालने के लिए प्रयास कर रहे हों तो तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि बाहर से आने वाला पानी का प्रवाह रूक न जाए या रोक न दिया जाये। कर्मपुद्गलों के प्रवाह को रोकना ही संवर है और इसके बाद अन्दर प्रविष्ट कर्मपुद्गलों को निकालना ही निर्जरा है। इसीलिए संवर और निर्जरा मोक्ष के लिए साधक माने गये हैं।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में मोक्ष—भारतीय दर्शन परम्परा का एक परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष को स्वीकार किया है, सिवाय चार्वाक के। चार्वाक मृत्यु को ही मोक्ष मानता है। उसके अनुसार **'मरणमेवापवर्ग:'** अर्थात् मौत ही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त मोक्ष कुछ भी नहीं है। बौद्ध इसे निर्वाण कहते हैं। न्याय-वैशेषिक इसे अपवर्ग और मीमांसक नि:श्रेयस कहते हैं। सांख्य-योग वेदान्ती और जैन इसे मोक्ष ही कहते हैं। प्राय: सभी दार्शनिक नित्य आत्मा को मानते हुए मोक्ष को स्वीकार करते हैं किंतु बौद्ध दार्शनिक नित्य आत्मा को न मानते हुए भी 'निर्वाण' को मानते हैं। यह उनकी विशेषता है। वे निर्वाण को शान्त अवस्था मानते हैं। यहां आत्मा की ही मुक्ति नहीं अपितु आत्मा से भी मुक्ति मानी गयी है जबकि जैन दर्शन में आत्मा की मुक्ति मानी गयी है। आत्मा की मुक्ति से तात्पर्य आत्मा के कर्ममलों के उच्छेद से है। सांख्य के मोक्ष में और न्याय-वैशेषिक के मोक्ष में जहां दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति मानी गयी है और मोक्ष का कोई विधेयात्मक स्वरूप स्वीकार नहीं किया गया है, वहां जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों है। यहां मोक्ष में कर्ममलों की निवृत्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होती है तो अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतआनन्द एवं अनन्तवीर्य की उपलब्धि होती है। जैन के मोक्ष में अनंत चतुष्टय साकार होता है। वेदान्त के मोक्ष में भी अनन्त आनन्द की उपलब्धि होती है। किंतु जैन दर्शन में यह उपलब्धि कर्ममलों के क्षय से है वहां वेदान्त में अज्ञान के क्षय से स्वीकार किया गया है।

3.9.1 जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप

मुक्त अवस्था में आत्मा किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता है। आत्मा किसी दूसरी सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवों का संघात नहीं होता है अपितु उसकी स्वतंत्र सत्ता है। मुक्त अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है। उससे सारे विजातीय तत्त्व सदा के लिए दूर हो जाते हैं। मुक्तावस्था में जीव का सद्भाव बना रहता है। यहां आत्मा की अशुद्धियों की निवृत्ति होती है न कि आत्मा की। जैन दर्शन यह भी मानता है कि जीव एक बार मुक्त हो जाने पर फिर संसार में नहीं आता है। मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन कर लोकान्त में स्थित हो जाता है। लोकान्त में जाकर सभी मुक्त जीव एक स्थान विशेष पर विराजमान रहते हैं, जिसे आगमिक शब्दावली में सिद्धशिला कहते हैं। मोक्ष और मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डालने के पश्चात अब प्रश्न यह उठता है कि मोक्ष के साधन क्या हैं?

3.9.2 मोक्षमार्ग

चूंकि सभी भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष और मोक्ष के स्वरूप को स्वीकृति दी है तो सबने मोक्षमार्ग पर भी प्रकाश डाला है। बौद्धों ने निर्वाण के साधन के रूप में अष्टांग मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् कर्म, सम्यक् वाक्, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) को स्वीकार किया है तो सांख्य ने विवेक ख्याति को, न्याय वैशेषिकों ने विवेकज्ञान को, शंकराचार्य ने आत्मज्ञान को और रामानुज ने भक्ति को तथा गीता ने ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों को मोक्षमार्ग माना है। जैनदर्शन में मोक्षमार्ग को बतलाते हुए तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में ही कहा गया है— **'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'** अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र इन तीनों का समन्वित मार्ग मोक्ष मार्ग है। उत्तराध्ययन में सम्यक् तप को भी इसमें जोड़ा गया है। तदनुसार श्रद्धा, ज्ञान चारित्र एवं तप-चारों को मोक्ष का साधन माना है। ज्ञान से जानना, दर्शन से श्रद्धा करना, चरित्र से निरोध करना और तप से विशुद्धि करना। यहां सामान्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप मोक्ष-प्राप्ति के साधन नहीं हैं अपितु सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप मोक्ष के उपाय हैं। इनमें किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्यों का मानना है कि केवल मोक्ष के विषय में श्रद्धा रखने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि श्रद्धा मात्र से मोक्ष की प्राप्ति मानी जाये तब तो भूख लगने पर उसके प्रति श्रद्धा मात्र से भोजन पक जाना चाहिए। इसी प्रकार केवल सम्यक् ज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा हो तो पानी के ज्ञान से ही प्यास बुझ जानी चाहिए थी, किंतु ऐसा नहीं होता है अर्थात् पानी पीने से ही प्यास बुझती है, उसी प्रकार श्रद्धा, ज्ञान के साथ आचरण अर्थात् चारित्र और तप भी मोक्ष का कारण है। जैसे रोगी के रोग की निवृत्ति के लिए आवश्यक है कि वह डाक्टर द्वारा दी गयी दवा में श्रद्धा रखे और दवा के उपयोग को समझे और उसका उपयोग करे तभी उसका रोग दूर होता है। उसी प्रकार मोक्ष के लिए इन चार साधनों का समन्वय आवश्यक है। कुन्दकुन्दाचार्य एवं अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों ने तप को भी मोक्ष का कारण माना है जबकि उमास्वाती ने तप को अलग नहीं किया है। वे तप को चारित्र के अंतर्गत ही समाहित कर लेते हैं।

इन चारों में चारित्र का बहुत बड़ा महत्त्व है, जिसका अर्थ संयम है। सब प्रकार की सपाप प्रवृत्तियों का परित्याग करने वाला व्यक्ति ही संयमी या चारित्रवान होता है। चारित्र का पालन करने वाला मुनि कहलाता है। चारित्रधर्म की मूलभूत आचार संहिता है 'महाव्रत'। शरीर के साथ प्रवृत्ति आवश्यक है। अतः प्रवृत्ति पापकारी न हो एतदर्थ समिति और गुप्ति का विधान है। समिति का अर्थ है संयममय प्रवृत्ति। समिति के पांच प्रकार ये हैं—

1. ईर्या समिति—युगमात्र भूमिं चक्षुषा प्रेक्ष्य गमनं ईर्या।शरीर प्रमाण भूमि को देखकर संयमपूर्वक चलना।

2. भाषा समिति—अनवद्यभाषणं भाषा। संयमपूर्वक बोलना, (निष्पाप भाषा)।

3. एषणा समिति—निर्दोषान्नपानादेरन्वेषणम् एषणा। संयमी के द्वारा निर्दोष भोजन पानी आदि की संयमपूर्वक एषणा करना।

4. आदान निक्षेप समिति—उपध्यादेः सयत्नं व्यापरणम्आदान निक्षेपः। धर्मोपकरणों को संयमपूर्वक लेना व रखना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5. उत्सर्ग समिति — उच्चारादे: सविधि परिष्ठापनम् उत्सर्ग:। मलमूत्र आदि का विधिपूर्वक विसर्जन करना।

इन पांचों समितियों से पांच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य) की अनुपालना सहज हो जाती है। इसलिए महाव्रत के साथ समिति का योग किया गया है। जहां समिति है, वहां गुप्ति आवश्यक है। गुप्ति के साथ समीति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। किंतु समिति, गुप्ति के बिना नही होती। इसलिए निम्न तीन गुप्तियों का भी विधान जैनदर्शन में है।

मनोवाक्कायसंवरो गुप्ति:। मन, वाणी और काया के संवर को गुप्ति कहते है।

1. मनोगुप्ति — मन पर पूरी तरह से निग्रह रखना, अथवा मन की असंयममय प्रवृत्ति का निग्रह।
2. वाक्गुप्ति — वाणी का सर्वथा निग्रह करना। अथवा वाणी की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह।
3. कायगुप्ति — शरीर की स्थूल, सूक्ष्म सभी प्रवृत्तियों व परिस्पन्दनों का निग्रह करना, अथवा सपाप प्रवृत्ति का निग्रह।

जैन धर्म में पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों के अतिरिक्त दस धर्मों का भी विधान है, जो इस प्रकार हैं —

1. क्षमा,	2. निर्लोभता,	3. आर्जव (सरलता),	4. मार्दव (मृदुता),	5. लाघव,
6. सत्य,	7. संयम,	8. तप,	9. त्याग,	10. ब्रह्मचर्य।

इन दस धर्मों की साधना करने वाला श्रमण ऊर्ध्वारोहण करता हुआ आत्मविकास की सब भूमिकाओं को पार कर मुक्त हो जाता है। अत: रत्नचतुष्टयी, महाव्रत, समितियां, गुप्तियां, दस धर्म आदि मोक्ष के साधन माने गये हैं।

इस प्रकार नवतत्त्वों के सांगोपांग विवेचन के पश्चात यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि साधना के विकास के लिए नवतत्त्वों के गूढ़ रहस्य को समझना आवश्यक है। तत्त्व व्यवस्था का आकलन होने पर ही आत्मविकास के बाधक तत्त्वों को दूर किया जाया जा सकता है? यदि आत्मविकास के बाधक तत्त्वों का बोध या ज्ञान नहीं होगा तो उससे निवृत्ति और साधक तत्त्वों की ओर प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? मोक्ष की साधना में अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध, जीव और आस्रव ये छ: बाधक तत्त्व हैं। परमार्थ की साधना करने वालों के लिए अपेक्षित है कि वे इनसे मुक्त होकर मोक्ष के लक्ष्य को प्राप्त करें। संवर और निर्जरा मोक्ष साधना के सहायक तत्व है। अत: परमार्थ के साधक के लिए उपर्युक्त नवतत्त्वों में से तीन साधक हैं और छ: बाधक। मोक्ष की साधना करने वाले हर व्यक्ति के लिए इस सच्चाई को अंगीकार कर अग्रसर होना होगा।

4.0 अस्तिकाय

आगमों में स्थान-स्थान पर विश्व व्यवस्था के संदर्भ में अस्तिकाय शब्द का प्रयोग हुआ है। अस्तिकाय जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण एवं पारिभाषिक शब्द है। अस्तिकाय शब्द अस्ति और काय इन दो शब्दों से बना है। यहां अस्ति का अर्थ प्रदेश और काय का अर्थ समूह किया गया है। अत: अस्तिकाय का अर्थ प्रदेशसमूह या अवयव समुदाय है। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा अर्थात् परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय अर्थात् समूह ही अस्तिकाय है। धर्म-अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशों का विघटन नहीं होता इसलिए वे अविभागी द्रव्य हैं। ये अवयवी इस दृष्टि से है कि इनके परमाणु तुल्य खण्डों की कल्पना की जाये तो वे असंख्य होते हैं। पुद्गल विभागी द्रव्य है। उसका सबसे सूक्ष्म, शुद्ध एवं अविभाज्य रूप परमाणु है। परमाणु मिलते हैं और अलग होते हैं। इसका मतलब यह है कि परमाणु के स्कन्ध बनते हैं और वे टूटते भी हैं। कोई स्कन्ध शाश्वत नहीं है क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं, वह उतना ही प्रदेशी होता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध में दो प्रदेश, त्रिप्रदेशी स्कन्ध में तीन प्रदेश और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध में अनंत प्रदेश होते है। होते हैं।

अस्तिकाय का विशिष्ट अर्थ — 'अस्तिकाय: प्रदेशप्रचय:' यह जैनदर्शन का मान्य सिद्धान्त है किंतु तत्त्वार्थ सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य सिद्धसेनगणी ने अपनी तत्त्वार्थ भाष्यानुसारिणी टीका में अस्तिकाय शब्द की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार काय शब्द उत्पाद एवं व्यय की ओर संकेत करता है तथा अस्ति पद से ध्रुवता का संकेत होता है। अस्तिकाय शब्द वस्तु की त्रयात्मकता को प्रकट करता है। अस्तिकाय शब्द से ज्ञात होता है कि धर्म आदि पांचों द्रव्य नित्य तथा अस्तित्ववान हैं तथा वे परिवर्तन के विषय भी बनते हैं। जैनदर्शन का अस्तिकाय सांख्य के पुरुष एवं वेदान्त के ब्रह्म की तरह कूटस्थ नित्य नहीं हैं और न ही बौद्धों के पर्याय की तरह नितान्त क्षणिक ही हैं। अस्तिकाय का त्रैकालिक अस्तित्व है। वे नित्य तथा त्रैकालिक भाव परिणत हैं। उन्हीं के द्वारा ही तीनों लोक निष्पन्न हुए हैं —

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

''जेहिं अत्थिसहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विवहेहिं।
ते होतिं अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं।।''

अस्तिकाय सार स्वरूप हैं तथा लोक के कारणभूत हैं। उनका अस्तित्व नियत है। भगवती में कहा गया है—'पंचत्थिकायएसणं एवत्तिए लोएत्ति पवुच्चई' अर्थात् पंचास्तिकाय को ही लोक कहकर पुकारा गया है। आगमकालीन समय में पंचास्तिकाय की ही परम्परा थी। उत्तरकाल में 'षड्द्रव्य' की परम्परा प्रभावी हुई और 'षड्द्रव्यात्मको लोकः' के आधार पर षड्द्रव्य को लोक कहा गया। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल प्रदेश समूह के कारण अस्तिकाय कहलाए और काल प्रदेश समूह न होने के कारण अनास्तिकाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ क्योंकि काल में प्रदेशों का समूह नहीं है। बीते हुए काल का कोई अस्तित्व नहीं होता और आने वाले का भी अस्तित्व नहीं है, केवल वर्तमान का अस्तित्व है अतः प्रदेश समूह नहीं है। इसलिए इसे अनास्तिकाय माना गया है या औपचारिक द्रव्य माना गया है।

सारांश

इस प्रकार प्रस्तुत पाठ में नव तत्त्वों की सम्यक् विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि जैनदर्शन में तत्त्व की अवधारणा का अपना महत्त्व है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्त्व ज्ञान अपेक्षित है। जब तक पाठक या साधक जीव एवं अजीव का सम्यक् ज्ञान नहीं करेगा, दो विजातीय तत्त्वों में भेद नहीं करेगा तब तक उसके लिए मोक्ष का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। इसलिए तत्त्व ज्ञान की उपादेयता सबके लिए है।

अभ्यास के प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. तत्त्व का अर्थ करते हुए नवतत्त्वों पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. संवर और निर्जरा में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. जीव और अजीव मूल तत्त्व हैं, तर्क द्वारा सिद्ध कीजिए।
3. अस्तिकाय की विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. स्कन्ध किसे कहते हैं?
2. पैशुन्य का क्या अर्थ है?
3. योग आस्रव से क्या तात्पर्य है?
4. रत्नत्रयी और मोक्ष मार्ग चतुष्टयी में क्या अन्तर है।
5. प्रतिसंलीनता से क्या तात्पर्य है?
6. अनुबन्ध किसे कहते हैं?
7. ध्यान के कितने भेद हैं?
8. अन्न पुण्य किसे कहते हैं?
9. मोक्ष में बाधक तत्त्व कौन-कौन-से हैं?
10. एषणा समिति से क्या तात्पर्य है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–2

द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप, भेद एवं सम्बन्ध

संरचना–

उद्देश्य

प्रस्तावना

1.0 द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

1.1 भारतीय दर्शन में द्रव्य

1.2 पाश्चात्य दर्शन में द्रव्य

2.0 जैन दर्शन में द्रव्य का स्वरूप

2.1 गुणसमुदाय रूप द्रव्य

2.2 गुणपर्यायियुक्त द्रव्य

2.3 द्रव्य का लक्षण सत् है

2.4 सप्तभंगी से युक्त द्रव्य है

2.5 परिणामी नित्यत्त्ववाद

बोध प्रश्न

3.0 जैन दर्शन में गुण

3.1 गुण की परिभाषा

3.2 गुणों के प्रकार

3.3 सामान्य गुण के प्रकार

3.4 विशेष गुण

4.0 पर्याय: एक विश्लेषण

4.1 पर्याय के प्रकार

5.0 द्रव्य-गुण-पर्याय भेदाभेद

5.1 द्रव्य और गुण का भेदाभेद

5.2 गुण और पर्याय में सम्बन्ध

5.3 द्रव्य और पर्याय का भेदाभेदवाद

बोधप्रश्न

6.0 द्रव्य के भेद

6.1 धर्मास्तिकाय द्रव्य

6.1.1 धर्म द्रव्य का स्वरूप

6.1.2 धर्मास्तिकाय की वैज्ञानिकता

6.2 अधर्मास्तिकाय द्रव्य

6.2.1 अधर्म द्रव्य का स्वरूप

6.1.2 धर्म और अधर्म का यौक्तिक आधार

6.3 आकाशास्तिकाय

6.3.1 आकाश का लक्षण

6.3.2 आकाश का स्वरूप

6.3.3 दिक् और आकाश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.3.4 आकाश और शब्द

6.3.5 लोकाकाश और अलोकाकाश

बोध प्रश्न

6.4 काल

6.4.1 काल और अनस्तिकाय

6.4.2 श्वेताम्बर परम्परा में काल के लक्षण

6.4.3 दिगम्बर परम्परा में काल के लक्षण

6.4.4 काल का लक्षण

6.4.5 काल के विभाग

6.4.6 काल के अन्यमान

7.0 जीव

8.0 पुद्गल

सारांश

अभ्यास के प्रश्न

उद्देश्य – इस इकाई के अध्ययन से हम

1. विभिन्न दर्शनों के अनुसार द्रव्य के स्वरूप को समझ सकेंगे।
2. जैन दर्शन की द्रव्यमीमांसा का ज्ञान कर सकेंगे।
3. जैन दर्शन की दृष्टि से द्रव्य के भेद की जानकारी कर सकेंगे।
4. धर्म और अधर्म द्रव्य की जैन दृष्टि से विवेचना कर सकेंगे।
5. आकाश और काल द्रव्य का अन्तर कर सकेंगे।

प्रस्तावना

प्राय: सभी भारतीय दार्शनिकों ने 'द्रव्य' को अपने चिंतन के केन्द्र में रखा है। द्रव्य चिंतन तत्त्वमीमांसा का प्रमुख विषय है। दर्शन के अंगों में प्रमुख अंग है तत्त्वमीमांसा और इस तत्त्वमोमांसा में प्रमुख है द्रव्य का चिंतन। जैनदर्शन में तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत द्रव्य को केन्द्र में रखा गया है। अत: इस अध्याय में हमारा उद्देश्य रहेगा कि हम जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य क्या है, इसका स्वरूप क्या है? द्रव्य गुण और पर्याय का आपस में क्या सम्बन्ध है? क्या द्रव्य निर्गुण और पर्यायविहीन हो सकता है? द्रव्य के कितने प्रकार हैं? द्रव्य का लोक से क्या सम्बन्ध है? इन सब विषयों पर प्रकाश डालें।

1.0 द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

जैनदर्शन में द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि—'अद्रुवत् द्रवति द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्' अर्थात् द्रव्य वह है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा। यह व्युत्पत्ति पर्याय को आधार मानकर द्रव्य को व्याख्यायित करती है। पर्याय को आधार मानकर अनेक आचार्यों ने द्रव्य की व्युत्पत्ति कुछ इसी प्रकार की है। गुण को आधार मानकर भी जो व्युत्पत्ति की गयी है, उनका भी अर्थ है जो गुणों को प्राप्त हुआ या हो रहा है तथा जो गुणों को प्राप्त होगा वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है कि अवस्थाओं का उत्पाद और नाश होते रहने पर भी जो नित्य (ध्रुव) रहता है, वह द्रव्य है।

1.1 भारतीय दर्शन में द्रव्य

सभी वैदिक और अवैदिक दर्शनों में द्रव्य विचार को केन्द्र में रखकर चिंतन हुआ है। कोई द्रव्य को नित्य मानता है तो कोई द्रव्य को अनित्य मानता है। बौद्ध दर्शन चूंकि अनित्यवादी है तो वह किसी नित्य द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। उसके मत से सब कुछ उत्पाद और विनाशशील है। कुछ भी नित्य, शाश्वत नहीं है। यहां नाम और रूप इन दो तत्त्वों से विश्व की व्याख्या हुई है। द्वादशनिदान ही सम्पूर्ण भवचक्र का आधार है। सब कुछ कारणकार्य पर निर्भर है। अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से भव, भव से जाति और जाति से जरा मरण अर्थात् सब कुछ उत्पन्न और नष्ट होता है, कुछ भी स्थायी नहीं है। ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन तत्त्वमीमांसा की अपेक्षा आचारमीमांसा पर अधिक बल देता है। यहां लोक को अनित्य, दु:खात्मक और अनाम माना गया है। द्वादश प्रतीत्यसमुत्पाद के गतिशील रहने पर चैतन्य का भव बना रहता है और जरामरण होता रहता है। द्वादश कारणों में से एक के भी निरूद्ध होने से समस्त चक्र निरूद्ध हो जाता है। भवचक्र निरूद्ध करने के लिए बौद्धों ने आर्याष्टांगिक मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् कर्म, सम्यक् वाक्, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) का प्रतिपादन किया है।

इसके अतिरिक्त सांख्य, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त द्रव्य को नित्य एवं शाश्वत मानते हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार—'द्रव्य वह है जो गुण तथा कर्म का आश्रय हो और अपने कार्य का समवायिकारण हो। द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता है। वह गुण और कर्म का आश्रयभूत तत्त्व है। मीमांसा दर्शन भी गुण और कर्म से युक्त द्रव्य को मानता है। कुमारिल के अनुसार जिसमें क्रिया और गुण हो वह द्रव्य है। सांख्य दो नित्य द्रव्य मानता है—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति जड़तत्त्व है। यह सारा द्रव्य संसार इस प्रकृति का ही परिणाम है। पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, जो देश-कालादि बन्धनों से मुक्त है। वह निर्गुण और निर्विकल्प तत्त्व हैं। वह मात्र द्रष्टा है। यह सारा संसार प्रकृति-पुरुष के संयोग का परिणाम है और उनके वियोग का परिणाम मोक्ष है। वेदान्त दर्शन कूटस्थ नित्यत्ववादी है। वहां **'त्रिकालाबाधितसत्'** को स्वीकार किया गया है। वह सत् या द्रव्य या तत्त्व है जो तीनों कालों में अबाधित है। **'एकमेवपरमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म'** अर्थात् एकमात्र परमार्थ सत् अकेला द्रव्य ब्रह्म ही है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर:' अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, जगत् मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। जैनदर्शन में द्रव्य को न तो कोरा नित्य और न कोरा अनित्य अपितु नित्यानित्य माना गया है जिसकी विस्तार में व्याख्या आगे प्रस्तुत है।

1.2 पाश्चात्य दर्शन में द्रव्य

पाश्चात्य दर्शन के केन्द्र में भी द्रव्य व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। पाश्चात्य दर्शन के प्रारंभ में जड़ द्रव्य को केन्द्र में रखा गया है। थेलीज सम्पूर्ण विश्व के कारण के रूप में जल द्रव्य को तो एनेक्जिमेनीज ने वायु तत्त्व को स्वीकार किया है। हेराक्लाइटस ने अग्नि को मूल द्रव्य माना है तो एम्पेडाक्लीज ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों को मूल द्रव्य स्वीकार किया है। प्लेटो द्रव्य को नित्य, शाश्वत मानता है तो अरस्तू नित्य, शाश्वत द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। वह द्रव्य और आकार को सापेक्ष मानता है। उसके अनुसार आज का द्रव्य कल आकार होता है और कल का आकार परसों द्रव्य होता है। द्रव्य और आकार बदलते रहते हैं। कोई स्थायी द्रव्य नहीं है। पाश्चात्य आधुनिक दार्शनिक डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज ने द्रव्य व्यवस्था को केन्द्र में रखकर विचार किया। डेकार्ट और स्पिनोजा के अनुसार—''द्रव्य वह स्वतंत्र सत्ता है, जो अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए किसी पर निर्भर नहीं है।'' यहां द्रव्य को स्वतंत्र, निरपेक्ष और नित्य स्वीकार किया गया है। डेकार्ट और स्पिनोजा द्रव्य की परिभाषा एक जैसी मानते हैं किंतु द्रव्य को लेकर दोनों में अन्तर है। जहां डेकार्ट ईश्वर, चित् और अचित् ये तीन द्रव्य मानता है वहां स्पिनोजा एक मात्र ईश्वर को ही द्रव्य मानता है। डेकार्ट द्रव्य को लेकर द्वैतवादी है तो स्पिनोजा अद्वैतवादी। डेकार्ट निरपेक्ष द्रव्य के रूप में ईश्वर को तो सापेक्ष द्रव्य के रूप में चित् और अचित् को द्रव्य स्वीकार करता है। लाइबनीज के अनुसार—'द्रव्य वह स्वतंत्र शक्ति है, जो अपने अस्तित्व और ज्ञान के लिए किसी पर निर्भर न हो।' यहां स्वतंत्र सत्ता पर बल न देकर स्वतंत्र शक्ति पर बल दिया गया है। लाइबनीज के अनुसार द्रव्य क्रियावान है। चिदणु को ही उसने मूलद्रव्य स्वीकार किया है। उसके अनुसार चिदणु असंख्य हैं, अत: द्रव्य भी असंख्य हैं। वे चिदणु के रूप में मात्र चेतन द्रव्य को ही स्वीकार करता है, अचेतन द्रव्य को नहीं। द्रव्य के संदर्भ में वह न तो द्वैतवादी है और न अद्वैतवादी अपितु बहुद्रव्यवादी है। इस प्रकार पाश्चात्यदर्शन में भी द्रव्य के संदर्भ में अनेक प्रकार के विचार मिलते हैं। अरस्तु का विचार जैनदर्शन के सबसे करीब दृष्टिगोचर होता है।

2.0 जैनदर्शन में द्रव्य का स्वरूप

जैनदर्शन न बौद्धों की तरह द्रव्य को अनित्य मानता है और न ही वेदान्त की तरह नित्य मानता है। यह किसी भी सम्बन्ध ा में एकान्तवादी विचार नहीं रखता है। अत: द्रव्य के संदर्भ में भी यहां किसी प्रकार का एकान्तवादी विचार मान्य नहीं है। जैन साहित्य में द्रव्य की परिभाषा कई दृष्टिकोणों के आधार पर की गयी है। यहां द्रव्य वह है, जो गुण समुदाय रूप हो, गुण पर्याय से युक्त हो, सत् स्वरूप हो, सप्तभंगी से युक्त हो, त्रैकालिक पर्यायों का पिण्ड हो, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो तथा नित्यानित्य हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.1 गुणसमुदायरूप द्रव्य

विश्व व्यवस्था के संदर्भ में द्रव्य की प्रथम परिभाषा उत्तराध्ययन में मिलती है। यहां गुणों के आश्रय को द्रव्य मानते हुए कहा गया है कि **'गुणाणमासओ दव्वं'** अर्थात् गुण का आश्रय द्रव्य है। इस परिभाषा में केवल गुणों के पिण्ड को द्रव्य कहा गया है। कुछ जैनाचार्यों ने इसी परिभाषा का अनुसरण करते हुए गुण-समुदाय को द्रव्य माना है।

2.2 गुणपर्याय से युक्त द्रव्य

उत्तराध्ययन की परिभाषा में द्रव्य को केवल गुणों का आश्रय माना गया है किंतु उत्तरवर्ती साहित्य में द्रव्य की जो परिभाषा है उसमें पर्याय को जोड़ा गया है। उमास्वाती ने द्रव्य की परिभाषा में गुण के साथ पर्याय को जोड़ते हुए तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है—**'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'** अर्थात् गुणपर्याय से जो युक्त है, वह द्रव्य है। उमास्वाती के अनुसार गुण पर्याय से रहित द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है। द्रव्यानुयोगतर्कणा में भी द्रव्य को गुणपर्याय के आधार के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया है—

''गुणपर्याययोः स्थानमेकरूपं सदापि यत्।
स्वजात्या द्रव्यमाख्यातं मध्ये भेदो न तस्य वै।''

अर्थात् गुण और पर्याय सदैव द्रव्य में रहते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में द्रव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—**'गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्'** अर्थात् गुण एवं पर्याय का आश्रय ही द्रव्य है। अब यह निश्चित होता है कि द्रव्य तभी होगा जब गुण एवं पर्याय हो। एक प्रश्न यह उठता है कि आखिर गुण और पर्याय क्या है? सहभावीधर्मो गुणः- और पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः पूर्व आकार का त्याग उत्तर आकार की उपलब्धि को पर्याय कहते हैं। द्रव्य का सहभावी धर्म गुण कहलाता है और क्रमभावी धर्म पर्याय कहलाता है अर्थात् जो सदैव द्रव्य के साथ रहता है वह गुण है और जो परिवर्तित होता रहता है, वह पर्याय है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुण कभी परिवर्तित नहीं होता है और पर्याय सदैव परिवर्तित होता रहता है।अतः द्रव्य गुण की दृष्टि से नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है।

2.3 द्रव्य का लक्षण सत् है

तत्त्वार्थ सूत्र जैनदर्शन का प्रथम संस्कृत ग्रंथ है, जिसमें द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि **'सत्द्रव्यलक्षणम्'**। जैनदर्शन में द्रव्य के लिए 'सत्' का प्रयोग हुआ है। 'सत्' शब्द का ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श करने पर स्पष्ट होता है कि भगवती में सत् के लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा — भंते! तत्त्व क्या है? भगवान् ने कहा — गौतम! तत्त्व वह है जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुव रहता है। भगवती के इस संवाद में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उल्लेख हमें मिलता है किंतु आगमों में 'द्रव्य' की 'सत्' संज्ञा नहीं थी। जबकि अन्य दर्शनों में 'सत्' के उल्लेख की प्रधानता रही तो जैनदर्शन में भी इस पर चिंतन हुआ। बौद्धों ने **'अर्थक्रियाकारित्व लक्षणं सत्'** स्वीकार कर कार्य निष्पादन की क्षमता वाले तत्त्व को सत् कहा। उनके अनुसार जिसमें कुछ उत्पन्न करने की क्षमता है वही सत् है। जो सत् है वह क्षणिक है और इस प्रकार सारे पदार्थ क्षणिक हैं। कुछ भी नित्य स्थायी नहीं है। सत् की एक परिभाषा के आधार पर बौद्धों ने सब कुछ क्षणिक माना। इसके ठीक विपरीत वेदान्ती सत् की परिभाषा करते हुए कहते हैं—'सत् वह है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में हो'। उनके अनुसार ऐसा एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही है, अतः वही सत् है। जैनदर्शन ने सत् की परिभाषा के संदर्भ में इन दोनों विरोधी विचारों का समन्वय किया है। आचार्य उमास्वाती ने 'सत्' की परिभाषा करते हुए कहा—**'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'** अर्थात् सत् वह है जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है तथा नित्य भी है। यहां बौद्धों का उत्पाद-व्यय भी है तो शंकराचार्य का ध्रौव्यत्व भी है।

2.4 सप्तभंगी से युक्त द्रव्य है

विभिन्न आचार्यों ने सप्तभंगी के आधार पर भी द्रव्य के स्वरूप को स्पष्ट किया है। जैनदर्शन के सात भंग इस प्रकार हैं—

1. स्यात् सत् है, (सत्) सद्भाव यानि अस्तित्व। स्वपर्याय की अपेक्षा सत् है।
2. स्यात् असत् है, (असत्) असद्भाव यानि नास्तित्व। परपर्याय की अपेक्षा असत् है।
3. स्यात् सदसत् दोनों है, स्वपर्याय की अपेक्षा सत है पर पर्याय की अपेक्षा से सत् नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. स्यात् अवक्तव्य है, स्व पर (युगपत्) पर्याय की अपेक्षा अवक्तव्य है।

5. स्यात् सत् और अवक्तव्य है, स्वपर्याय की अपेक्षा से सत् तथा युगपत् की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

6. स्यात् असत् और अवक्तव्य है, पर पर्याय की अपेक्षा से असत् तथा युगपत् वक्तव्य की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

7. स्यात् सदसत् और अवक्तव्य है।स्वपर्याय की अपेक्षा से सत् है पर पर्याय की अपेक्षा से असत् है तथा युगपत् की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

जैसे- 1. घट है (स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से)

2. घट नहीं है (पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से)

3. घट है घट नहीं है। (स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से है, पर द्रव्यादि की अपेक्षा से नहीं है।)

4. कथंचित अवक्तव्य है। (युगपत् द्रव्यादि की अपेक्षा से अवक्तव्य है।)

5. कथंचित घट अवक्तव्य है।

6. कथंचित घट अवक्तव्य नहीं है।

7. कथंचित अवक्तव्य है नहीं है दोनों।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जिसमें ये सात भंग पाये जाते हैं। हर द्रव्य सत् भी है तो असत् भी है। गुण के कारण सत् है और पर्याय के कारण असत् है। दोनों का क्रम से वर्णन करें तो 'सदसत्' है और युगपद वर्णन करें तो अवक्तव्य है। इसी रूप में शेष भंगों को भी समझना चाहिए। सप्तभंगी के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा है—

''सिय अत्थि, णत्थि उहयं अव्वतव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण सम्भवदि।।''

अर्थात् सत्ता (द्रव्य) है भी, नहीं भी है, दोनों है, अवक्तव्य है। इसी तरह द्रव्य के सात भंग समझने चाहिए। इस प्रकार सात भंगों के आधार पर भी द्रव्य को परिभाषित किया जा सकता है।

2.5 परिणामी नित्यत्ववाद

जैनदर्शन में द्रव्य को न तो नित्य माना गया है और न ही अनित्य माना गया है अपितु इसे नित्यानित्य या परिणामी नित्य कहा गया है। 'परिणामी नित्यवाद' में परिणमन एवं नित्यत्व का समन्वय हुआ है। इसका तात्पर्य है कि सत्ता नित्य भी है और परिवर्तित भी होती है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन के होते हुए भी इसके अस्तित्व की हानि कभी नहीं होती है। दर्शनशास्त्र में 'परिणाम' और विवर्त दो शब्द मिलते हैं। परिणाम से तात्पर्य है किसी वस्तु का किसी दूसरे आकार में बदल जाना और विवर्त का अर्थ है परिवर्तन का वास्तविक रूप में न होना किंतु उसका आभास होना। दूध का दही में परिवर्तन परिणाम है और रस्सी का सर्प के रूप में परिवर्तन विवर्त है। रस्सी, रस्सी ही रहती है किंतु सर्प के रूप में आभास होता है जबकि परिणाम में वास्तविक परिवर्तन होता है। 'परिणामी नित्यत्ववाद' में परिवर्तन भी सच्चाई है और नित्यता भी सच्चाई है जिसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे स्वर्णकार सोने के कुण्डल को तोड़कर कड़ा बनाता है, उस समय कुण्डल का पर्याय या आकार नष्ट होता है और कड़े के पर्याय या आकार का उद्भव होता है, परन्तु दोनों अवस्थाओं में सोना ज्यों का त्यों बना रहता है। उपर्युक्त दूध-दही के उदाहरण में दूध से दही बनता है तथा दही को मथने से मक्खन बनता है। इसमें दूध का पर्याय नष्ट हुआ तो दही का पर्याय उत्पन्न हुआ और दही का पर्याय नष्ट हुआ तो मक्खन का पर्याय उत्पन्न हुआ। परन्तु दूध, दही, मक्खन इन तीनों अवस्थाओं में गोरसत्व नित्य है। किसी भी आकार या पर्याय में उसकी हानि नहीं हुई। इन दृष्टान्तों के आधार पर स्पष्ट होता है कि द्रव्य परिणामी नित्य या नित्यानित्य है।

उपर्युक्त द्रव्य सम्बन्धी विविध परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य का स्वरूप नित्यानित्य है। अब यहां एक प्रश्न यह आता है कि द्रव्य दो विरोधी गुणों का समूह कैसे हो सकता है? आचार्य रामानुज ने भी यही प्रश्न उठाया था कि एक द्रव्य दो विरोधी गुणों से युक्त नहीं हो सकता। जो नित्य है वह अनित्य नहीं हो सकता और जो अनित्य है वह नित्य नहीं हो सकता। किंतु जैनदर्शन में एक ही वस्तु को 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' के आधार पर नित्य और अनित्य दोनों माना गया है। कोई द्रव्य अपने मूल स्वरूप में सदैव नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बोध प्रश्न–

परिणामी नित्यत्ववाद का अर्थ समझकर लिखें।

3.0 जैनदर्शन में गुण

द्रव्य की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि द्रव्य में गुण और पर्याय होते हैं। कोई ऐसे द्रव्य की कल्पना भी सम्भव नहीं है जिसमें गुण का अभाव हो। यहां द्रव्य की नित्यता गुण से ही सिद्ध की गयी है। यदि गुण का अस्तित्व न होता तो द्रव्य का नित्यत्व कैसे सिद्ध होता? द्रव्य की प्राचीन परिभाषा में गुण के समूह को ही द्रव्य माना गया है, इससे भी गुण का वैशिष्ट्य उजागर होता है।

3.1 गुण की परिभाषा

उत्तराध्ययन में गुण को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो द्रव्य के आश्रित है वह गुण है। वैशेषिक सूत्र में भी गुण को द्रव्य के आश्रित माना गया है। आचार्य उमास्वाति ने आगमिक परम्परा का अवलम्बन लेते हुए भी वैशेषिक सूत्र का उपयोग करके गुण का लक्षण करते हुए कहा है कि—**'द्रव्याश्रया: निर्गुणा गुणा:'** अर्थात् द्रव्य जिसका आश्रय है और जो स्वयं अन्य गुणों को आश्रय नहीं देते, वे गुण हैं। वैशेषिक दर्शन में जहां द्रव्य एवं गुणों के सम्बन्ध के लिए समवायि सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है वहीं जैनदर्शन में द्रव्य एवं गुण का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध अर्थात् कभी पृथक् न होने वाला सम्बन्ध है। तभी तो गुण के बारे में यह भी कहा गया है कि यह द्रव्य का सहभावी है—**'सहभावीधर्मो गुण:'** अर्थात् द्रव्य के सहभावी (साथ-साथ होने वाले) धर्म को गुण कहते हैं। सहभावी धर्म द्रव्य से कभी अलग नहीं होता। द्रव्य है तो गुण है और द्रव्य नहीं तो गुण भी नहीं है। इनका अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है।

3.2 गुणों के प्रकार

गुणों के प्रकार के संदर्भ में कहा गया है—**'सामान्यो विशेषश्च'** अर्थात् गुण के मूलत: दो प्रकार हैं—

1. सामान्य गुण, 2. विशेष गुण।

सामान्य गुण—सभी द्रव्यों में समान रूप से व्याप्त रहने वाला गुण सामान्य गुण कहलाता है। यह गुण सभी द्रव्यों में पाया जाता है। इसीलिए इसे सामान्य गुण कहा गया है।

3.3 सामान्य गुण के प्रकार

सामान्यत: आगमों में सामान्य गुण छ: प्रकार के बतलाये गये हैं किंतु द्रव्यानुयोगतर्कणा में आचार्य भोजसागर ने 10 सामान्य गुणों का उल्लेख किया है। चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व ये चारों गुण सामान्य एवं विशेष दोनों स्वीकार किये गये हैं। मूलत: सामान्य गुण के छ: प्रकार इस प्रकार हैं—

सामान्य गुण

अस्तित्व **वस्तुत्व** **द्रव्यत्व** **प्रमेयत्व** **प्रदेशवत्व** **अगुरूलघुत्व**

भोजसागर के अनुसार सामान्य गुण 10 हैं—

सामान्य गुण

अस्तित्व **वस्तुत्व** **द्रव्यत्व** **प्रमेयत्व** **प्रदेशवत्व** **अगुरूलघुत्व** **चेतनत्व** **अचेतनत्व** **मूर्त्तत्व** **अमूर्त्तत्व**

भोजसागर के अनुसार उपर्युक्त दस गुण सामान्य रूप से सब द्रव्यों के मिला करके कहे गये हैं। इनमें से मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व ये चार गुण परस्पर के परिहार से द्रव्य में रहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक-एक द्रव्य में आठ-आठ गुण होते हैं। जहां चेतनत्व है, वहां अचेतनत्व नहीं और जहां मूर्त्तत्व है, वहां अमूर्त्तत्व नहीं है। इस कारण से प्रत्येक द्रव्य में आठ सामान्य गुण हैं। अब एक-एक गुणों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

अस्तित्व गुण—हर द्रव्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। द्रव्य की सत्ता हर काल में है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिस गुण के कारण द्रव्य की सत्ता तीनों कालों में है। वह गुण अस्तित्व गुण ही है। जैन सिद्धान्त दीपिका में इस गुण को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**''विद्यमानता अस्तित्वम्''** अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य सदैव विद्यमान रहता है, वह अस्तित्व सामान्य गुण है। इस गुण के कारण ही द्रव्य में उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यत्व सदैव बना रहता है।

वस्तुत्व गुण—**'अर्थक्रियाकारित्वम् वस्तुत्वम्'** अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य कोई न कोई अर्थक्रिया अवश्य करे उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। अर्थक्रिया के बिना वस्तु अवस्तु हो जाती है।

द्रव्यत्व—**'गुणपर्यायाधारत्वम् द्रव्यत्वम्'** अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य सदा एक जैसा न रहकर सदैव नये-नये पर्यायों को धारण करता रहे उसे द्रव्यत्व नामक सामान्य गुण कहते हैं। द्रव्यत्व द्रव्य में होने वाले सभी प्रकार के परिवर्तनों का आधार है। इसी गुण के कारण ही जीव द्रव्य नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करता रहता है।

प्रमेयत्व—**'प्रमाणेन परिच्छेद्यं प्रमेयं प्रणिगद्यते'** अर्थात् जो प्रमाण से जानने में आता है, वह प्रमेयत्व गुण है। दूसरे शब्दों में **'प्रमाणविषयता प्रमेयत्वम्'** अर्थात् जिस गुण के द्वारा द्रव्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, वह प्रमेयत्व है। धर्म आदि सभी द्रव्यों का ज्ञान इसी गुण के कारण होता है।

प्रदेशवत्व—**'अवयवपरिमाणता प्रदेशवत्वम्'** अर्थात् यह वह गुण है जिससे, द्रव्य के प्रदेशों का माप होता है। द्रव्य के इसी गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशों का माप होना संभव है।

अगुरुलघुत्व—जो सूक्ष्म है तथा वाणी का विषय नहीं बनता वह अगुरुलघु नाम का सामान्य गुण है। द्रव्यानुयोगतर्कणा में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'अगुरुलघुता सूक्ष्मा वाग्गोचर विवर्जिता'** अर्थात् यह गुण सूक्ष्म है तथा वाणी का विषय नहीं है। दीपिकाकार के अनुसार—**'स्वस्वरूपाविचलनत्वम् अगुरुलघुत्वम्'** अर्थात् जिस गुण के कारण द्रव्य अपने स्वरूप में स्थिर रहे। उसके अनन्त गुण आपस में इस प्रकार अनुस्यूत हों कि वे कभी बिखरकर अलग-अलग न हो जायें।

चेतनत्व गुण—**'चेनत्वमनुभूतिः'** अर्थात् आत्मा का जो अनुभव है वह चेतनत्व है। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इसप्रकार का सारा व्यापार चेतनत्व गुण से होता है। छः द्रव्यों में मात्र जीव ही चेतन है।

अचेतनत्व गुण—**'अचेतनमजीवता'** अर्थात् जीवरहित स्वरूप अचेतन का है। जीव को छोड़कर शेष पांचों द्रव्यों में यह गुण विद्यमान रहता है।

मूर्त्तत्वगुण—**'रूपादियुक्तं मूर्त्तत्वम्'** अर्थात् जिसमें रूपादि गुण हो वह मूर्त्तत्व है। यह गुण पुद्गल द्रव्य में रहता है।

अमूर्त्तत्व गुण—जिसमें रूपादि गुण न हो वह अमूर्त्तत्व है। छह द्रव्यों में पुद्गल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अमूर्त्त हैं।

3.4 विशेष गुण

सामान्य गुण तो सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। परन्तु विशेष गुण हर द्रव्य का अपना-अपना होता है। यह सब द्रव्यों में समान रूप से नहीं होता है। सामान्यतः 16 विशेष गुणों की चर्चा प्राप्त होती है। परन्तु द्रव्यानुयोगतर्कणाकार ने विशेष गुण 12 स्वीकार किये हैं। चेतनत्व आदि चार गुणों को उन्होंने विशेष और सामान्य दोनों माना है। उन्होंने 12 विशेष गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

''ज्ञानं दृष्टिः सुखं वीर्यं स्पर्शगन्धौ रसेक्षणे।
गतिस्थित्यवगाहत्ववर्त्तनाहेतुतापराः।।''

ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य ये चार आत्मा के विशेष गुण हैं तथा रस, गन्ध, स्पर्श तथा वर्ण ये चार पुद्गल के विशेष गुण हैं तथा गति, स्थिति, अवगाहन और वर्त्तना ये धर्मादि द्रव्यों के विशेष गुण हैं। इसके अतिरिक्त चेतनत्व-अचेतनत्व, मूर्त्तत्व-अमूर्त्तत्व ये परजाति की अपेक्षा से विशेष भी हैं। अतः इनका समावेश विशेष गुण में हो जाने से गुणों की संख्या 16 होती है। 6 द्रव्यों में किस द्रव्य में कितने विशेष गुण हैं, इसका उल्लेख इस प्रकार है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

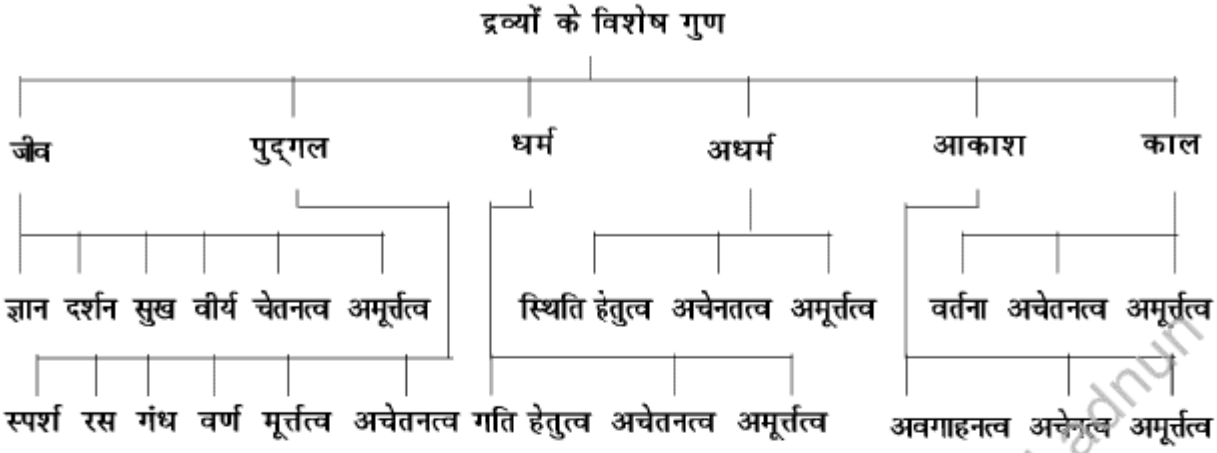

4.0 पर्याय:एक विश्लेषण

गुण की तरह पर्याय भी द्रव्य का धर्म है। **'सहभावी गुणो धर्म: पर्यायो क्रम भाव्यथ'** अर्थात् गुण द्रव्य के साथ निरन्तर रहता है और पर्याय बदलता रहता है। अत: यह भी कहा गया है—**'अन्वयिनो गुणा: व्यतिरेकिण: पर्याया:'** अर्थात् गुण द्रव्य अन्वयि धर्म है और पर्याय व्यतिरेकी धर्म है। उत्तराध्ययन में पर्याय को परिभाषित करते हुए कहा गया है—जो मात्र द्रव्याश्रित होता है, उसे पर्याय कहते हैं। पर्याय द्रव्य एवं गुण दोनों के आश्रित होता है। तत्त्वार्थकार ने पर्याय को परिणमन के रूप में व्याख्यायित करते हुए कहा है—**'तद्भाव: परिणाम:'** अर्थात् परिणाम ही पर्याय का दूसरा नाम है। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है उसी के भीतर उसमें परिवर्तन होता रहता है। द्रव्य न कूटस्थ है और न क्षणिक किन्तु परिणामी है। द्रव्य स्वयं अपने मूल स्वरूप की हानि किये बिना प्रतिसमय भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं। द्रव्यों की इन अवस्थाओं का नाम ही परिणाम है। दीपिका के अनुसार—**'पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्याय:'** अर्थात् पूर्व आकार के परित्याग एवं उत्तर आकार की उपलब्धि को पर्याय कहते हैं। जीव देह, नारक आदि में परिवर्तित होता है, पुद्गल भिन्न-भिन्न स्कन्ध के रूप में तथा धर्म आदि के साथ जीव एवं पुद्गल का संयोग एवं वियोग होता है। ये सब द्रव्य के पर्याय हैं। जीव का ज्ञान, दर्शन आदि गुणों में तथा पुद्गल का स्पर्श, रस आदि में परिवर्तन होता रहता है, ये सब गुण के पर्याय हैं।

4.1 पर्याय के प्रकार

चूंकि पूर्व एवं उत्तर अवस्थाएं अनन्त हैं अत: पर्याय भी अनन्त हैं किंतु संक्षेप में उन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है।

1. व्यंजन पर्याय।-**"स्थूल: कालान्तरस्थायी शब्दानां संकेतविषयो व्यंजनपर्याय:"** जो पर्याय स्थूल होता है-सर्व साधारण के बुद्धिगम्य होता है कालान्तर स्थायी अर्थात त्रिकालस्पर्शी होता है तथा जिसे शब्दों द्वारा बताया जा सके वह व्यंजन पर्याय है।

2. अर्थ पर्याय।-**"सूक्ष्मा वर्तमानवर्ती अर्थपरिणाम: अर्थपर्याय:"**-जो सूक्ष्म तथा वर्तमानवर्ती होता है, द्रव्य बदलने पर भी आकार नहीं बदलता वह अर्थपर्याय है।

एक दूसरी दृष्टि से भी पर्याय के दो भेद किये गये हैं—1. स्वभाव पर्याय, 2. विभाव पर्याय।

'परनिमित्तानपेक्ष: स्वभावपर्याय:' दूसरे के निमित्त की अपेक्षा न रखने वाली अवस्था को स्वभाव पर्याय कहते हैं। **'परनिमित्तापेक्षो विभावपर्याय:'** दूसरे के निमित्त से होने वाली अवस्था को विभाव पर्याय कहते हैं। इसे एक दृष्टान्त से इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे वृक्ष का एक फल स्वत: पकता है तो इस परिवर्तन को स्वभाव पर्याय कहते हैं और एक फल तोड़कर अन्य माध्यमों से पकाया जाता है तो उसे विभावपर्याय कहते हैं।

5.0 द्रव्य-गुण-पर्याय भेदाभेद

द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद को स्पष्ट करने के बाद यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस बात का विवेचन कर लिया जाए कि द्रव्य, गुण एवं पर्याय में भेद है या अभेद अथवा भेदाभेद? उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि गुण और पर्याय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से युक्त द्रव्य है और गुण-पर्याय से रहित कोई द्रव्य हो ही नहीं सकता। अत: द्रव्य-गुण और पर्याय में सम्बन्ध स्पष्ट है। भेदाभेद के इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए तीन प्रकार के सम्बन्धों की पुष्टि आवश्यक है—

1. द्रव्य और गुण का भेदाभेद
2. गुण और पर्याय का भेदाभेद
3. द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद

5.1 द्रव्य और गुण का भेदाभेद

द्रव्य और गुण में क्या सम्बन्ध है, इसे लेकर तीन प्रकार के प्रश्न उठते हैं—

1. द्रव्य और गुण में भेद है,
2. द्रव्य और गुण में अभेद है,
3. द्रव्य और गुण में भेदाभेद है।

वैशेषिक दार्शनिक द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न मानकर भेद पक्ष का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार द्रव्य और गुण के लक्षण भिन्न हैं। द्रव्य गुणों का आधार होता है जबकि गुण द्रव्य के आश्रित होते हैं। द्रव्य गुणवान होता है और गुण निर्गुण होते हैं। अर्थात् गुणों के गुण नहीं होते हैं। इसी प्रकार द्रव्य क्रियावान होता है और गुण निष्क्रिय होते हैं। लक्षण की भिन्नता के साथ-साथ दोनों को जानने के प्रयास भी भिन्न हैं। द्रव्य को जानने के लिए एक से अधिक इन्द्रिय एवं मन की अपेक्षा रहती है जबकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों को जानने के लिए सम्बंधित इन्द्रिय की ही अपेक्षा रहती है। जैसे घट, पट आदि द्रव्य को जानना है तो इन्द्रियों में नेत्रेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय दोनों आवश्यक हैं किंतु रूप को जानना है तो नेत्रेन्द्रिय की ही अपेक्षा रहेगी। अत: दोनों की पृथकता स्वत: प्रमाणित है।

न्याय-वैशेषिक के विपरीत जैन दार्शनिक द्रव्य और गुण के सर्वथा भेद का खण्डन करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार द्रव्य और गुण में परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध है। उनके अनुसार यदि गुणों को सर्वथा भिन्न माना जाए तो गुणों के आधार के रूप में किसी अन्य द्रव्य की कल्पना करनी होगी। इसी प्रकार पुन: उस द्रव्य में निहित गुणों को स्वतंत्र मानने पर उन गुणों के आधार के रूप में किसी अन्य दव्य की कल्पना करनी होगी। परिणामत: अनवस्था दोष आ जायेगा। चूंकि गुण अनन्त है तो दव्य भी अनन्त हो जायेंगे। गुणों का समुदाय द्रव्य है। यदि गुणों को सर्वथा भिन्न मानें तो द्रव्य के अस्तित्व का संकट आ जायेगा। अत: द्रव्य और गुण पृथक्-पृथक् नहीं है। न्याय-वैशेषिक का समवाय सम्बन्ध भी यहां मान्य नहीं है। न्याय-वैशेषिकों के अनुसार दोनों भिन्न हैं पर वे समवाय सम्बन्ध से सम्बंधित होते हैं। जैनदर्शन समवाय नामक स्वतंत्र पदार्थ की आवश्यकता नहीं समझता। उनके अनुसार यदि समवाय की स्वतंत्र सत्ता मान लें तो जिस प्रकार पट में पटत्व के सम्बन्ध के लिए समवाय की जरूरत है वैसे ही समवाय में समवायत्व के सम्बन्ध के लिए एक अन्य समवाय चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रयोग उपस्थित होगा। इसलिए जैनदर्शन में समवाय सम्बन्ध के स्थान पर तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकृत है।

जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक द्रव्य और गुण में सर्वथा भेद मानते हैं। वैसे ही ब्रह्माद्वैतवादी इनमें सर्वथा अभेद मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादियों के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है। इसी तरह शब्दाद्वैतवादी शब्द को तथा ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान को ही एकमात्र परमसत् मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म, शब्द और ज्ञान में द्रव्य और गुण का कोई भेद नहीं होता है। यहां अभेद ही पूर्णत: सत्य है।

जैन दार्शनिक एकान्तिक अभेद को स्वीकार नहीं करते। अकलंक के अनुसार द्रव्य और गुण को एकान्तत: अभिन्न मानने पर या तो गुण रहेंगे या द्रव्य। गुण निराश्रय नहीं रह सकते। फलत: द्रव्य के अभाव में गुणों का भी अभाव हो जावेगा और यदि द्रव्य की ही सत्ता मानें तो द्रव्य निर्गुण हो जायेंगे जबकि हम जानते हैं कि गुण के आधार पर ही द्रव्य का स्वरूप निर्धारित होता है अत: द्रव्य और गुण में पूर्णत: अभेद सम्बन्ध भी नहीं है।

5.2 गुण और पर्याय में सम्बन्ध

कुछ जैनाचार्य गुण और पर्याय में भेद मानते हैं तो कुछ अभेद मानते हैं। उत्तराध्ययन में द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों का स्वतंत्र निरूपण हुआ है। वहां यह भी बताया गया है कि पर्याय द्रव्य और गुण-इन दोनों के आश्रित है। जैसे द्रव्य की पर्याय बदलती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है, वैसे गुण की भी पर्याय बदलती है। उमास्वाति, कुन्दकुन्द व पूज्यपाद ने द्रव्य और गुण तथा गुण और पर्याय में अर्थभेद बतलाया है। पूज्यपाद ने तो इस संदर्भ में एक गाथा भी प्रस्तुत की है—

''गुण इति दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो।

तेहि अणूणं दव्वं अजुद पसिद्धं हवे दव्वं।।''

इस गाथा के माध्यम से पूज्यपाद ने गुण और पर्याय का अर्थभेद सिद्ध किया है। **'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'** में गुण और पर्याय की अलग-अलग स्वीकृति भी दोनों को भिन्न सिद्ध करती है। सिद्धसेन दिवाकर ने गुण और पर्याय में अभेद सम्बन्ध को स्वीकार किया है। उन्होंने द्रव्य और पर्याय इन दो को ही मान्य किया है। उनके अनुसार गुण और पर्याय एक हैं। वे तर्क भी देते हैं कि भगवान् ने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय - इन दो नयों से ही वस्तु का प्रतिपादन किया है। यदि गुण, पर्याय से भिन्न होते तो गुणार्थिक नय का भी उल्लेख अवश्य होता। अत: गुण और पर्याय एक ही है। अत: गुण और पर्याय किसी दृष्टि से भिन्न है तो किसी दृष्टि से अभिन्न भी।

5.3 द्रव्य और पर्याय का भेदाभेदवाद

प्राचीन आगम साहित्य में द्रव्य और पर्याय दो ही शब्दों का निर्देश मिलता है। वहां गुण की स्वतंत्र संज्ञा नहीं है। गुण और पर्याय दोनों को ही 'पर्याय' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। सिद्धसेन ने तो दोनों की एकार्थता सिद्ध की है। गुण और पर्याय दोनों में परिणमन है अत: दोनों एक हैं। द्रव्य और पर्याय के संदर्भ में भी न्याय-वैशेषिक जहां भेद मानते हैं वहां वेदान्ती अभेद मानते हैं किंतु जैनदर्शन मूलत: भेदाभेदवाद का ही पक्षधर है। जैनाचार्य दोनों की भिन्नता या अभिन्नता का सापेक्ष प्रतिपादन करते हैं। यदि दोनों को एकान्तत: अभिन्न मानें तो प्रश्न होगा कि फिर द्रव्य और पर्याय अलग-अलग नाम क्यों? यदि दोनों को एकान्तत: भिन्न माना जाये तो दोनों में सम्बन्ध कैसे होगा? दोनों प्रश्नों का निराकरण भेदाभेद सम्बन्ध मानने से सम्भव होता है। कुन्दकुन्द के अनुसार—'पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्याय होते ही नहीं अत: दोनों अन्योन्याश्रित हैं।' टीकाकार अमृतचन्द्र के अनुसार—जैसे दूध, दही, घी आदि से भिन्न गोरस नहीं होता, वैसे ही पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय दृष्टि से द्रव्य और पर्याय को अभिन्न माना है तो व्यवहार नय की दृष्टि से भिन्नता भी स्वीकार की है। सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है और पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है। द्रव्य पर्याय से रहित नहीं होता और पर्याय द्रव्य से रहित नहीं होते, अत: दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

इस प्रकार द्रव्य-गुण सम्बन्ध, गुण-पर्याय सम्बन्ध तथा द्रव्य-पर्याय सम्बन्ध का विश्लेषण करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि द्रव्य-गुण और पर्याय का सम्बन्ध जैनदर्शन में न्यायवैशेषिक की तरह न तो भेद का सम्बन्ध है और न ही अद्वैत वेदान्ती की तरह न तो अभेद का सम्बन्ध है अपितु भेदाभेद का सम्बन्ध है।

बोध प्रश्न

द्रव्य एवं गुण का भेदाभेद स्पष्ट करें।

6.0 द्रव्य के भेद

जैन सिद्धान्त दीपिका में द्रव्य का विवेचन करते हुए कहा गया-

धर्माधर्माकाश पुद्गल जीवास्तिकाया द्रव्याणि।

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशस्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये द्रव्य हैं।

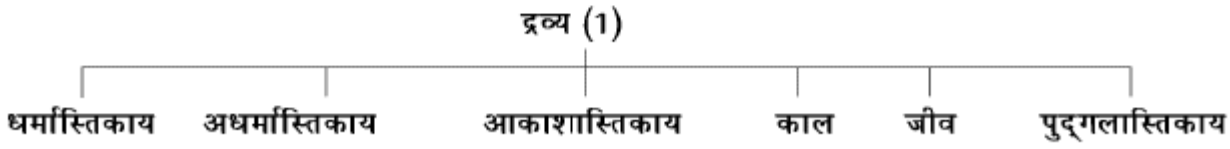

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

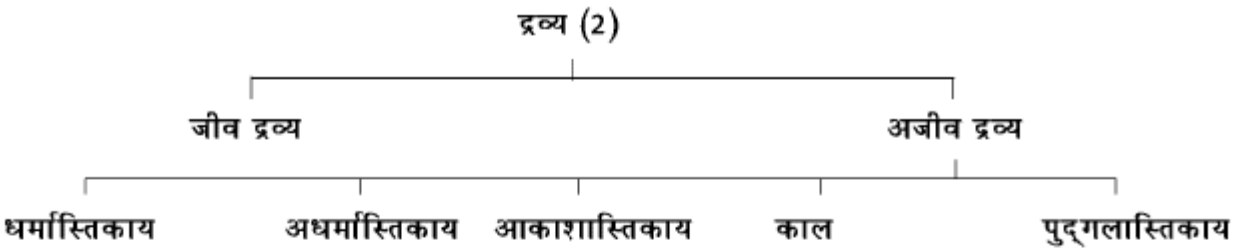

6.1 धर्मास्तिकाय द्रव्य

भारतीय दर्शनों में धर्म और अधर्म शब्द का उल्लेख पुण्य, पाप, प्रशस्त-अप्रशस्त कार्य के रूप में किया जाता है। जैन दर्शन के आचार मीमांसा में भी यही अर्थ मान्य है किंतु तत्त्वमीमांसा में यहां धर्म और अधर्म एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैनदर्शन के अतिरिक्त और किसी भी दर्शन में धर्म और अधर्म को द्रव्य रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। यहां धर्म को **'गतिसहायो धर्मः'** के रूप में परिभाषित किया गया है। उत्तराध्ययन में धर्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है—**'गइलक्खणो धम्मो'** अर्थात् गतिक्रिया सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य है। भगवती सूत्र में गणधर गौतम स्वामी के एक प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—''जीव और पुद्गल के गमन में जो सहायक द्रव्य है वह है धर्मास्तिकाय।''

धर्मास्तिकाय नामक यह द्रव्य गतिशील जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायक होता है। जैसे मछली पानी में तैरती है तो पानी में तैरने की शक्ति मछली की स्वयं की है। पानी तैरने के लिए उसे न तो प्रेरित कर सकता है और न ही दबाव डाल सकता है। मछली की इच्छा के बिना पानी उसका कुछ भी नहीं कर सकता। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि धर्मास्तिकाय न स्वयं गतिशील जीव और न किसी को गति करने या चलने के लिए प्रेरित करता है। वह तो जीव और पुद्गल की गति में निमित्त मात्र है। जैसे जल मछलियों के लिए गति में अनुग्रहशील है, वैसे ही धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों के लिए गति में सहायक है। इस सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने लिखा है—''धर्म द्रव्य क्रियाशील पदार्थों को उनकी गति के समय स्वमेव सहायता देता है। वह उनकी गति में साधारण आश्रय है, जिस प्रकार मछली के लिए जल।''

6.1.1 धर्म द्रव्य का स्वरूप

धर्म द्रव्य का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—धर्म द्रव्य एक अखण्ड, स्वतंत्र और वस्तुनिष्ठ सत् है। यह एक द्रव्य है। इस जैसा कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। यह अखण्ड है अर्थात् इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। यह स्वतंत्र द्रव्य है अर्थात् यह किसी पर निर्भर नहीं है। अन्य द्रव्य अपनी गति के लिए इस पर निर्भर हैं। यह काल्पनिक सत् नहीं अपितु त्रैकालिक वास्तविक सत् है। यह किसी के मनस पर निर्भर नहीं है। इसका अपना वास्तविक स्वरूप है।

क्षेत्र की दृष्टि से—क्षेत्र की दृष्टि से यह लोक में व्याप्त है। इसलिए इसे लोकाकाश तक ही सीमित माना गया है। लोकाकाश में जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश इनके हैं। संख्या की दृष्टि से ये प्रदेश असंख्यात हैं। अलोकाकाश में इनका अभाव है। अतः ये असीम न होकर ससीम हैं।

काल की दृष्टि से—काल की दृष्टि से त्रिकालवर्ती है। इस धर्म द्रव्य का अस्तित्व अनादि और अनन्त है। इसका कोई आदि, अन्त नहीं है। यह आरम्भ से ही है और सदा रहेगा, अतः यह अनादि, अनंत एवं शाश्वत है।

भाव अथवा स्वरूप की दृष्टि से—यह अमूर्त (स्पर्श आदि गुणों से रहित), अभौतिक, चैतन्यरहित तथा स्वयं अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से-गतिशील पदार्थों की गति में अपेक्षित सहायता करना।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि धर्मास्तिकाय द्रव्य की अपेक्षा एक और अखण्ड द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा लोक तक है, काल की अपेक्षा त्रिकालवर्ती और भाव की अपेक्षा अमूर्त्त है, गण की अपेक्षा से गति सहायक है।

6.1.2 धर्मास्तिकाय की वैज्ञानिकता

दार्शनिक जगत् में किसी भी दार्शनिक ने गति में सहायक द्रव्य के रूप में जैनदर्शन के सिवाय धर्मास्तिकाय के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। किंतु विज्ञान जगत् में इस जैसा एक द्रव्य ईथर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वैज्ञानिक न्यूटन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ने गति के माध्यम (Medium of Motion) के रूप में ईथर को स्वीकार किया था। न्यूटन ने प्रकाश तरंगों के प्रसार के माध्यम के रूप में ईथर को स्वीकार किया था। उनके अनुसार यह भौतिक तत्त्व ईथर समग्र आकाश में व्याप्त होकर प्रकाश तरंगों के प्रसार में माध्यम बनता है। कालान्तर में माइकलसन और मोर्ले अतिसूक्ष्मग्राही यंत्रों के आधार पर खोज करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ईथर का कोई प्रभाव प्रकाश की गति पर नहीं पड़ता। इसी आधार पर कालान्तर में आइन्स्टीन ने भी गति के माध्यम के रूप में भौतिक ईथर के अस्तित्व को नकार दिया। आधुनिक भौतिक विज्ञान में अब इस प्रकार के ईथर का अस्तित्व समाप्त हो गया पर इससे अभौतिक ईथर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंग्टन ने **'न्यू पाथवेज इन साइन्स'** पुस्तक (पृष्ठ 38-41) में ईथर सम्बन्धी एक नये सिद्धान्त को स्वीकृति दी है। उनके अनुसार आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने भौतिक ईथर का अस्तित्व भले ही मिटा दिया हो किंतु अभौतिक ईथर का अस्तित्व तो संभव हो सकता है। इस प्रकार आधुनिक अभौतिक ईथर को धर्मास्तिकाय के रूप मे देखा जा सकता है।

6.2 अधर्मास्तिकाय द्रव्य

अधर्मास्तिकाय का स्वभाव भी धर्मास्तिकाय जैसा ही है। मात्र उसके विशेष गुण में अन्तर पड़ता है। अधर्मास्तिकाय द्रव्य को परिभाषित करते हुए द्रव्यानुयोगतर्कणा में कहा गया है—

''स्थितिहेतुर्यदा धर्मो नोच्यते क्वापि चेद् द्वयो:।
तदा नित्या स्थिति: स्थाने कुत्रापि न गतिर्भवति।।''

अर्थात् जीव और पुद्गल की स्थिति का उदासीन कारण अधर्म द्रव्य है। यदि ऐसा न होता तो पुद्गल और जीव की नित्य स्थिति होती, कहीं भी उनकी गति नहीं होती।जैन सिद्धान्त दीपिका में भी कहा गया है- स्थिति सहायोऽधर्म:-स्थिति में सहायक होने वाले द्रव्य को अधर्म कहते हैं।

कहा गया है कि धर्म जैसे जीव और पुद्गल की गति में सहायक है वैसे ही अधर्म, जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन रूप से सहायक है। जैसे पथिकों को विश्राम के लिए वृक्ष की छाया सहायक होती है। वृक्ष की छाया किसी को ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करती या दबाव नहीं डालती अपितु छाया रूकने वालों के रूकने में मददगार साबित होती है। यदि छाया रोकने का मूल या उपादान कारण होती तो ऊधर से गुजरने वाले हर व्यक्ति को वह रोकती किंतु ऐसा होता नहीं अत: यही कहना उचित होगा कि वह जैसे उदासीन कारण है, वैसे ही अधर्मास्तिकाय भी जीव और पुद्गल की स्थिति का उदासीन कारण है। अब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अधर्मास्तिकाय के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है—

6.2.1 अधर्म द्रव्य का स्वरूप

अधर्म द्रव्य का स्वरूप इस प्रकार है—

द्रव्य की दृष्टि से—यह धर्मास्तिकाय की तरह एक अखण्ड, स्वतंत्र और वस्तुनिष्ठ है। इसकी अपनी वास्तविक सत्ता है।यह द्रव्य से एक द्रव्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से—यह समस्त लोक में व्याप्त है। इसका अस्तित्व केवल लोकाकाश तक ही है। इसकी पहुंच अलोक तक नहीं है। अत: क्षेत्र की दृष्टि से इसे ससीम ही माना जा सकता है। यह असीम नहीं है। लोक परिमाण है।

काल की दृष्टि से—यह अनादि, अनन्त और शाश्वत है।

भाव की दृष्टि से—यह अमूर्त्त, अभौतिक, अचेतन एवं अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से- पदार्थों के स्थिर रहने में अपेक्षित सहायता करना।

अत: यह कह सकते हैं कि द्रव्य की दृष्टि से अधर्मास्तिकाय एक और अखण्ड, क्षेत्र की दृष्टि से ससीम, काल की दृष्टि से अनादि एवं अनंत तथा भाव की दृष्टि से अमूर्त्त एवं अचेतन द्रव्य है।

6.2.2 धर्म और अधर्म का यौक्तिक आधार

किसी की भी सत्ता को स्वीकार करने का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कार्यकारण नियम के अनुसार कुछ भी अकारण नहीं है। अब यह प्रश्न उठता है कि धर्म और अधर्म को मानने का क्या कारण हो सकता है? इसके लिए दो युक्तियां दी जा सकती हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. गति, स्थिति के निमित्तक के रूप में, 2. लोक-अलोक की विभाजक शक्ति के रूप में।

प्रथम प्रश्न यह उठता है कि जीव और पुद्गल की गति और स्थिति का कारण किसे माना जाये? इस प्रश्न के उत्तर में जब हम कारणता के सिद्धान्त पर विचार करते हैं तो हमें दो कारण दृष्टिगोचर होते हैं—प्रथम उपादान कारण और द्वितीय निमित्त कारण। उपादान कारण वह होता है जो स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जाये और निमित्त कारण वह होता है जो कार्य निष्पादन में सहायक हो। यदि किसी पदार्थ में गति या स्थिति होती है तो उसका उपादान कारण तो वह स्वयं होता है। किंतु निमित्त कारण क्या है? यह विचारणीय प्रश्न है? क्या वायु को निमित्त कारण माना जा सकता है? वायु को यदि निमित्त कारण मान लें तो फिर उसकी गति का कारण ढूंढना पड़ेगा। इस प्रकार एक दूसरे की गति का कारण ढूंढते हुए अनवस्था दोष से ग्रस्त होना पड़ेगा। अत: गति का कारण वही हो सकता है जो स्वयं गतिमान न हो। वायु गतिशील होने के कारण गति का निमित्त कारण नहीं हो सकता।

यदि अगतिशील पृथ्वी और जल को निमित्त कारण माना जाये तो यह भी उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि ये पदार्थ समस्त लोक में व्याप्त नही हैं। अत: ये भी निमित्त कारण नही हो सकते। अत: ऐसे द्रव्य की आवश्यकता होगी जो— 1. स्वयं अगतिशील हो, 2. समस्त लोक में व्याप्त हो, 3. दूसरे पदार्थों की गति में सहायक हो।

ऐसा द्रव्य आकाश भी नहीं कहा जा सकता। असीम और अनन्त होने के कारण गतिशील पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश में संभव हो जायेगी और फिर यह विश्व अव्यवस्थाओं का ढेर मात्र होगा किंतु विश्व का रूप व्यवस्थित है अत: गति का निमित्त कारण धर्मास्तिकाय ही हो सकता है। इसी प्रकार स्थिति का निमित्त कारण भी वायु, पृथ्वी, जल, आकाश आदि न होकर अधर्मास्तिकाय ही सिद्ध होता है।

जैसे गति-स्थिति के निमित्तक के रूप में धर्म, अधर्म का अस्तित्व सिद्ध है, वैसे ही लोक-अलोक के विभाजक के रूप में भी इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। लोक-अलोक के विभाजन का आधार क्या है? कोई अनित्य या अशाश्वत सत्ता विभाजन का आधार नहीं हो सकती क्योंकि यदि किसी ऐसी सत्ता को आधार माना भी जाये तो एक प्रश्न उठेगा कि उस सत्ता के नष्ट होने पर विभाजन को कैसे समझाया जा सकता है? अत: इनके विभाजन होने के आधार के रूप में छ: द्रव्य ही विचारणीय हैं। आकाश स्वयं विभाज्य होने के कारण विभाजन का आधार नहीं हो सकता। काल भी विभाजन का आधार नहीं हो सकता। काल को भी नैश्चयिक और व्यावहारिक काल में विभक्त करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा नैश्चयिक काल को जीव, अजीव का पर्याय मात्र मानती है। यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र में ही विद्यमान है। जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य हैं अत: ये विभाजन का आधार नहीं बन सकते। इस प्रकार छ: द्रव्यों में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय बचते हैं जो इस विभाजन का आधार माने जा सकते हैं। जहां ये हैं वहीं जीव और पुद्गल गति और स्थिति करते हैं और जहां ये नहीं हैं वहां किसी द्रव्य की गति स्थिति सम्भव नहीं है। अत: यह कहना युक्तियुक्त है कि लोक-अलोक के विभाजक द्रव्य के रूप में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध है।

6.3 आकाशास्तिकाय

आकाश की उपयोगिता पर एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?

भगवन ने कहा—गौतम! आकाश नहीं होता तो ये जीव कहां होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहां व्याप्त होते? काल कहां वर्तन करता है? पुद्गल का रंगमंच कहां बनता? यह विश्व निराधार ही होता।

भगवान् महावीर के उत्तर से यह सिद्ध होता है कि आकाश द्रव्य की उपयोगिता बहुत अधिक है। इससे यह स्पष्ट है कि छ: द्रव्यों में आकाश सबसे अधिक व्यापक, विशाल एवं विराट है।

6.3.1 आकाश का लक्षण

आकाश का लक्षण आधार (अवगाह) देना है। भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने कहा—**'अवगाह लक्खणेणं आगासत्थिकाए'** अर्थात् जो सभी द्रव्यों को युगपत् अवकाश देता है, स्थान देता है, वह आकाश द्रव्य है। जो सभी द्रव्यो का आधारभूत है और सबको अपने में समाहित कर लेता है वह आकाश है। यह एक ऐसा पात्र है जिसमें सब कुछ समाहित होने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के बाद भी यह खाली है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में **'आकाशस्यावगाहः'** कहकर पांचों द्रव्यों को आधार देने वाले द्रव्य के रूप में ही आकाश को स्वीकारा है। द्रव्यानुयोगतर्कणाकार ने आकाश के संदर्भ में लिखा है—

''यो दत्ते सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम्।
लोकालोकाप्रकारेण द्रव्याकाशः स उच्यते।।''

अर्थात् जो साधारण रूप से सब द्रव्यों को अवगाहन अर्थात् रहने को स्थान देता है वह आकाश द्रव्य है। यह लोक तथा अलोक इन दो भागों में विभक्त है।

जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार—**'अवगाहलक्षण आकाशः'** अवगाह देने वाले द्रव्य को आकाश कहते हैं। लोक व्यवहार में प्रायः नीले रंग का जो आकाश दिखाई देता है, उसे आकाश माना जाता है किंतु वास्तव में वह आकाश नहीं है क्योंकि आकाश केवल ऊपर ही नहीं है अपितु सर्वत्र है। यदि आकाश सर्वत्र न हो तो व्यक्तियों और वस्तुओं को आधार कौन देगा? ऊपर जो नीला रंग दृष्टिगोचर होता है वह पौद्गलिक है। उसकी संरचना पुद्गल से है। उसे आकाश नहीं माना जा सकता।

अब एक प्रश्न उठता है कि लोकाकाश असंख्यात प्रदेश वाला है। जीव और पुद्गल अनंत हैं तो फिर असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में ये कैसे समा सकते हैं? इस प्रश्न के समाधान के लिए जैनदर्शन में एक दृष्टान्त दिया जाता है कि जैसे कमरे का एक-एक प्रदेश एक बल्ब से जगमग हो जाता है, थोड़ा भी स्थल प्रकाश से रिक्त नही होता। उसी कमरे में यदि कई बल्ब लगा दिये जाएं तो उनका सबका प्रकाश भी कमरे में मिल जाता हैं। किसी बल्ब का प्रकाश किसी अन्य बल्ब के प्रकाश में बाधा नहीं डालता है, इसी प्रकार सभी द्रव्य एक दूसरे द्रव्य को बिना व्याघात पहुंचाये उन्ही आकाश प्रदेशों पर रहते हैं। अभिप्राय यह है कि एक प्रदेश पर एक परमाणु रहता है, उसी पर असंख्य एवं अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी रह सकता है। इसलिए यह मानने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिए कि असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश मे अनन्त जीव द्रव्य और अनन्त परमाणु समाहित हो जाते हैं।

6.3.2 आकाश का स्वरूप

जैनदर्शन में आकाश के समग्र स्वरूप को बहुत विस्तार के साथ निरूपित किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से भी आकाश के स्वरूप को समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—आकाश एक अखण्ड, स्वतंत्र, वस्तुनिष्ठ और वास्तविक सत्ता है। अवगाहन की दृष्टि से सभी द्रव्य आकाश पर निर्भर हैं। वह किसी पर निर्भर नहीं है।द्रव्य से एक द्रव्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से—आकाश अनन्त और असीम है। वह सर्वव्यापी है। इसलिए लोक से परे भी इसका अस्तित्व है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात और अलोकाकाश के प्रदेश अनन्त हैं। वह लोक अलोक परिमाण है।

काल की दृष्टि से—इसका अस्तित्व अनादि, अनंत और शाश्वत है। यह उत्पत्ति और विनाश से परे है।

भाव की दृष्टि से—आकाश अमूर्त्त अर्थात् स्पर्श, रूप, रस, गंध से रहित है। अभौतिक अर्थात् जड़ द्रव्य पुद्गल से भिन्न है। चैतन्य रहित एवं अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से– भाजन गुण (स्थान देना)

इस प्रकार आकाश एक अखण्ड द्रव्य है किंतु लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में इसके दो भेद भी हैं।

6.3.3 दिक् और आकाश

जैनदर्शन के अनुसार दिक् (दिशा) का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह आकाश का ही एक काल्पनिक अंश है। आकाश के जिस भाग से वस्तु का निरूपण किया जाता है, वही दिशा कहलाता है। वैशेषिक दर्शन में आकाश की तरह दिशा को भी एक स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के आधार पर दिशा को स्वतंत्र द्रव्य मानें तो फिर पूर्वदेश, पश्चिमदेश, उत्तरदेश और दक्षिणदेश आदि का व्यवहार भी करना होगा। इस आधार से देशद्रव्य, जिलाद्रव्य, प्रांतद्रव्य, राष्ट्रद्रव्य एवं विश्वद्रव्य आदि अनेक द्रव्यों की कल्पना भी की जा सकती है। इसलिए यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि दिशा अलग द्रव्य नहीं है। दिशा का प्रारंभ आकाश के दो प्रदेशों से होता है। वृद्धि होते होते वे असंख्यप्रदोशात्मक बन जाती है। अनुदिशा केवल एक प्रदेशात्मक होती हे। ऊर्ध्व और अधोदिशा चार प्रदेशों से प्रारम्भ होती है पर उनमें वृद्धि नहीं होती है। यहां ज्ञातव्य है कि सूर्योदय के आधार पर पूर्व आदि दिशा का कथन ताप दिशा की अपेक्षा से है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.3.4 आकाश और शब्द

जैनदर्शन मे आकाश का विशेष गुण है आश्रय देना जबकि अन्य दर्शनों में आकाश का गुण शब्द माना गया है। वैशेषिक दर्शन ने शब्द को आकाश का गुण माना है। सांख्य दर्शन में शब्द को आकाश का मुख्य कारण माना है। जैनदर्शन इस बात से सहमत नहीं है कि शब्द आकाश का गुण है। यहां शब्द को पौद्गलिक माना गया है। अत: यह मूर्त्त है। इसकी मूर्त्तता का प्रमाण यह है कि यह कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। चूंकि इन्द्रियां मूर्त्त हैं अत: वे मूर्त्त पदार्थों को ही ग्रहण करती हैं। जैनदर्शन के अनुसार बोलने के बाद शब्द (भाषावर्गणा के पुद्गल) सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जाते हैं जहां उनको पकड़ने के साधन होते हैं वहां उन्हें पकड़कर सुना जा सकता है। रेडियो, टेपरेकॉर्डर, माइक, ग्रामोफोन आदि के माध्यम से उन्हें कहीं भी सुना जा सकता है। चूंकि शब्द मूर्त्त है अत: मूर्त्त संसाधनों की पकड़ में यह आ जाता है। आकाश अमूर्त्त है। उसमें स्पर्श, रस, रूप, गन्ध आदि नहीं हैं। अत: अमूर्त्त आकाश का गुण मूर्त्त हो ही नहीं सकता। शब्द को इस आधार पर भी आकाश का गुण नहीं माना जा सकता कि उसे फैलने का आधार आकाश में ही मिलता है। यदि इस आधार पर शब्द को आकाश का गुण माना जाये तो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल, जीव सभी आकाश के गुण हो जायेंगे क्योंकि आकाश ही उन्हें आश्रय प्रदान करता है। अत: इस आधार पर भी शब्द आकाश का गुण नहीं हो सकता। यदि शब्द आकाश का गुण है तो लोक के बाहर भी उसे होना चाहिए। लोक के बाहर अलोक में आकाश है किंतु वहां शब्द नहीं है। अत: यह कहा जा सकता है कि शब्द अपनी मूर्त्तता के कारण और अलोक में व्याप्त न होने के कारण आकाश का गुण नहीं हो सकता। शब्द तो मूर्त्त पुद्गल का गुण है। अत: वैशेषिक आदि दार्शनिकों का यह मत कथमपि ठीक नहीं है कि शब्द आकाश का गुण है।

6.3.5 लोकाकाश और अलोकाकाश

चूंकि समस्त आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों के द्वारा अवगाहित नहीं है अत: एक होने पर भी अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण इसे दो भागों में विभक्त किया जाता है— 1. लोकाकाश, 2. अलोकाकाश।

आकाश का जो भाग शेष पांच द्रव्यों का आधार (आश्रय) बनता है, वह तो लोकाकाश है और शेष भाग जहां कोई द्रव्य नहीं है वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या असंख्यात है तो अलोकाश के प्रदेश अनन्त हैं। लोकाकाश एक, अखण्ड, शान्त और ससीम है तो अलोकाकाश एक, अखण्ड, असीम और अनन्त है। ससीम लोक चारों ओर अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन! अलोक का आकार कैसा है?"

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"हे गौतम! खाली गोले की रिक्तता जैसा आकार है।" अर्थात् अलोक एक विशाल गोले के समान है, जिसकी त्रिज्या अनन्त है। अत: यह कहना उचित ही है कि लोकाकाश की स्थिति विशाल समुद्र में उठे हुए एक द्वीप की तरह है और शेष फैला हुआ समुद्र अलोक है। एक बात और ध्यातव्य है कि मूलत: लोक और अलोक एक और अखण्ड हैं। इनका विभाजन अन्य द्रव्यों के अस्तित्व के कारण होता है। जहां अन्य द्रव्य हैं, वह लोक और जहां अन्य द्रव्य नहीं हैं, वह अलोक है।

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि आकाश का गुण अवकाश देना है तो लोक के बाहर जहां अन्य कोई द्रव्य नहीं है, वहां यह गुण क्यों नहीं रहता? हम यह भी जानते हैं कि गुण-गुणी का सम्बन्ध शाश्वत है तो अलोक में ऐसा क्यों नहीं होता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि तालाब में पानी नहीं है तो क्या हम यह कह सकते हैं कि तालाब में पानी को आश्रय देने की क्षमता नहीं है? उसी प्रकार यदि अलोक में स्थान लेने वाला कोई द्रव्य नहीं है तो हम यह नहीं कह सकते कि आश्रय देना उसका गुण नहीं है। आश्रय देना उसका त्रैकालिक गुण है, स्वभाव है। आवश्यकता है पदार्थ या द्रव्य के उपस्थित होने की। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अलोक मात्र अवगाह देने की क्षमता रखता है, पर अन्य द्रव्य उसमें आश्रय लेने की क्षमता नहीं रखते हैं।

बोध प्रश्न-

जैन दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण क्यों नहीं है? लिखें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.4 काल

सामान्य व्यवहार में प्रयोग में आने वाला समय शब्द ही काल का सूचक है किंतु जैनदर्शन में 'समय' को भिन्न अर्थ में लिया गया है।

यहां समय को काल का अविभाज्य अंश माना गया है। समय काल का सबसे छोटा हिस्सा है जिसके दो भाग नहीं हो सकते। काल स्थूल है और समय सूक्ष्म है। काल प्रवाह रूप है तो समय प्रवाह से रहित है। आगमों में समय का माप इस प्रकार बताया गया है—एक परमाणु को एक आकाश-प्रदेश से दूसरे आकाश-प्रदेश तक जाने में जितना समय लगता है, वह एक समय है। आचार्यों ने इसे इस रूप में भी समझाया है कि आंख की पलक झपकने और खुलने में जितना काल लगता है, उसमें असंख्यात समय बीत जाते हैं। कमल पत्रभेद और वस्त्रविदारण इन दो उदाहरणों से भी इसे समझा जा सकता है। कमल पत्रभेद से तात्पर्य है कि कमल के सैकड़ों पत्तों को क्रमशः एक-दूसरे के ऊपर रखकर एक तीक्ष्ण नोंक वाली बड़ी सूई को ऊपर रखकर जोर से दबाएं तो क्षणभर में ही सूई उन कमल पत्तों को छेदकर उस पार पहुंच जाती है। दूसरा वस्त्रविदारण से तात्पर्य यह है-एक शक्तिवान जुलाहा एक वस्त्र को फाड़ता है तो दर्शक को लगता है कि उसने सारा वस्त्र एक साथ फाड़ डाला किंतु उसमें भी एक-एक तंतु फटने में काल भेद होता है। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार इन दोनों प्रक्रियाओं में असंख्यात समय लगते हैं। समय इतना सूक्ष्म है कि हम उसे देख नहीं सकते।प्रश्न यह उठता है कि अगर समय को हम देख नहीं सकते तो स्वीकार क्यों करते हैं? उत्तर के रूप में कह सकते हैं कि समय को सर्वज्ञ देख सकता है, अतः वह मान्य है।

6.4.1 काल और अनस्तिकाय

काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच अस्तिकाय हैं। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में और आचार्य कुन्कुन्द ने पंचास्तिकायसार में उक्त पांच द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है। अन्य आचार्यों ने भी इसके लिए अस्तिकाय शब्द का प्रयोग किया है। **'प्रदेशप्रचयः अस्तिकायः'** अर्थात् प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं। पांच द्रव्यों में धर्म, अधर्म और जीव असंख्यात प्रदेशों से युक्त हैं। आकाश अनन्त प्रदेशों से युक्त है। इन पांच द्रव्यों की तरह काल भी एक द्रव्य है किंतु वह प्रदेशों के समूह के रूप में नहीं है।दीपिका में कहा गया-कालोऽप्रदेशी। काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व में होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है और भविष्य समय अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। वर्तमान समय 'एक' होता है इसलिए इसका तिर्यक् प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

6.4.2 श्वेताम्बर परम्परा में काल के लक्षण

श्वेताम्बर परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर औपचारिक द्रव्य माना गया है। वहां इसे स्वतंत्र द्रव्य न मानकर जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय माना गया है। जहां इसके जीव-अजीव के पर्याय होने का उल्लेख है, वहीं इसे द्रव्य भी कहा गया है। इस विरोधी कथन को समाहित करते हुए यहां उल्लेख है कि निश्चय नय की दृष्टि से काल जीव-अजीव का पर्याय है और व्यवहार दृष्टि में यह द्रव्य है। इसका तात्पर्य यह है कि श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने काल के जो दो भेद किये उनमें व्यावहारिक काल को ही केवल औपचारिक द्रव्य माना जाता है। जैन सिद्धान्त दीपिकाकार के अनुसार—**'कालश्च जीवाजीवपर्यायत्वात् औपचारिकद्रव्यमसौ इत्यस्य पृथक् ग्रहणम्। क्षणवर्तित्वान्न च अस्तिकायः।'** अर्थात् काल भी द्रव्य है। काल जीव और अजीव का पर्याय होता है। अतः यह औपचारिक द्रव्य है। इसी दृष्टि से शेष पांच द्रव्यों से इसका पृथक् प्रतिपादन हुआ है। यह क्षणवर्ती है। अतीत और भविष्य सत् नहीं है, अतः अनस्तिकाय है।

उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र में काल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—**'कालश्चेत्येके'** अर्थात् कुछ आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं। **'सोऽनन्त समयः'** अर्थात् वह अनन्त समय वाला है। जब तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति यह कहते हैं कि कुछ आचार्य काल को द्रव्य कहते हैं तब उनका आशय यही है कि काल का स्वतंत्र द्रव्यत्व सर्वसम्मत नहीं है। अतः यह कहना उपयोगी है कि काल को द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। इस संदर्भ में कहा गया कथन **'उपकारकं द्रव्यम्'** उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार व्यावहारिक काल को द्रव्य मानने का कारण यही है कि काल के कुछ एक उपकार हैं। जिन उपकारों के कारण काल को द्रव्य की कोटि में गिना जाता है, वे मुख्यतया पांच हैं—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व।

नैश्चयिक काल अन्य द्रव्यों के परिवर्तन का कारण है। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों में प्रत्येक समय में जो परिणमन होता रहता है, पर्याय बदलते रहते हैं, वह नैश्चयिक काल के निमित्त से है। दूसरे शब्दों में नैश्चयिक काल को जीव और अजीव का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर्याय कहा गया है। इसकी पुष्टि में आगम का यह कथन प्रस्तुत करना उपयुक्त है। भगवान् महावीर से उनके शिष्य गौतम द्वारा प्रश्न पूछा गया—''हे भगवन्! काल किसको कहते हैं?'' तब भगवान् महावीर ने उत्तर में कहा—''हे गौतम! जीव को भी काल कहते है तथा अजीव को भी काल कहते है।'' जो जिस द्रव्य की पर्याय है, वह उस द्रव्य के अंतर्गत आ जाता है। अत: जीव की पर्याय जीव है और अजीव की पर्याय अजीव। इस प्रकार नैश्चयिक काल जीव भी है और अजीव भी है। काल का निरूपण जब निश्चय नय की दृष्टि से होता है, तब वह नैश्चयिक कहलाता है अत: वास्तविक काल नैश्चयिक काल ही है। अत: निश्चय नय की दृष्टि से काल द्रव्य न होकर जीव और अजीव की पर्याय है। जीव या अजीव जिन-जिन अवस्थाओं में परिवर्तित होते हैं, उनका कारण काल ही है।

6.4.3 दिगम्बर परम्परा में काल के लक्षण

श्वेताम्बर परम्परा की काल सम्बन्धी अवधारणा से दिगम्बर परम्परा की काल सम्बन्धी अवधारणा बिल्कुल भिन्न है। जहां श्वेताम्बर परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते, वहां दिगम्बर परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य माना गया है। यहां काल को दो भागों में- व्यवहार और निश्चय रूप में भी विभक्त किया गया है किंतु इसकी परिभाषा भिन्न रूप से हुई है। द्रव्य संग्रह ग्रंथ में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने काल के लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

''दव्व परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो।। (गाथा-21)
लोयायासप्रदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासीइव ते कालाणू असंखदव्वाणि।।'' (गाथा-22)

अर्थात् जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप, परिणाम रूप देखा जाता है, वह तो व्यावहारिक काल है और 'वर्तना' लक्षण का धारक जो काल है, वह नैश्चयिक काल है। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक कालाणु स्थित है और वे असंख्यात हैं।'' नैश्चयिक काल कालाणु के रूप में वास्तविक द्रव्य है। कालाणु रूप नैश्चयिक काल 'वर्तना' लक्षण के द्वारा जाना जाता है। प्रत्येक द्रव्य के समय-समय में होने वाले परिवर्तनों के उपादान कारण तो वे स्वयं होते हैं किंतु उन परिवर्तनों के निमित्त कारण कालाणु ही होते हैं, जिसे जैनदर्शन में 'वर्तन' कहा गया है। कालाणु द्रव्य का नैश्चयिक लक्षण 'वर्तना' है, जिससे ही कालाणु के निमित्त से द्रव्यों में परिवर्तन के साथ-साथ ध्रुवता (नित्यता) भी बनी रहती है। कालाणु भी उत्पाद्-व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। वर्तमान 'समय' की उत्पत्ति, अतीत समय का व्यय और इन दोनों के आधारभूत कालाणु ध्रुव रहते हैं। अत: द्रव्य की परिभाषा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्' कालाणु पर लागू होने से यह भी वास्तविक द्रव्य है। रत्नों की राशि की जो उपमा दी गयी है, वह यह बताने के लिए है कि जिस प्रकार रत्न परस्पर एक दूसरे में नहीं मिलते हैं, उसी प्रकार कालाणु भी एक-दूसरे में नहीं मिलते हैं। परन्तु रत्नों की तरह न तो उनका आकार होता है और न ही उनमें स्पर्श, रस, रूप और गन्ध ही होते हैं। स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उन पदार्थों में होता है जो मूर्त्त हैं, और आकार-प्रकार से युक्त हैं। अत: रत्नों की राशि से तुलना परस्पर प्रदेश या पार्थक्य की दृष्टि से ही उपयुक्त है।

दिगम्बर परम्परा में द्रव्यों में नवीनता और प्राचीनता का जो द्योतक है, वह व्यावहारिक काल है। यह परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि लक्षणों से जाना जाता है। व्यावहारिक काल आदि और अन्त सहित है और नैश्चयिक काल आदि और अन्त रहित है। व्यावहारिक काल स्वयं द्रव्य नहीं है। यह नैश्चयिक काल से सापेक्ष है।

दिगम्बर परम्परा में काल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए पं. महेन्द्र कुमार 'न्यायाचार्य' लिखते हैं— समस्त द्रव्यों के उत्पादादि रूप परिणमन में सहकारी 'काल द्रव्य' होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्यद्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है और समस्त लोकाकाश में घड़ी, घण्टा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारों में निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्यों की तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित होने के कारण अमूर्त्तिक है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्य की तरह वह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है क्योंकि प्रत्येक आकाशप्रदेश पर समय भेद इसे अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। लंका और कुरुक्षेत्र में दिन, रात आदि का पृथक्-पृथक् व्यवहार तत्तत् स्थानों के कालभेद के कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य मानने पर कालभेद नहीं हो सकता। द्रव्यों में परत्व-अपरत्व आदि व्यवहार काल से ही होते हैं। पुरानापन और नयापन भी कालकृत होते हैं। अतीत, वर्तमान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और भविष्य के व्यवहार भी काल की क्रमिक पर्यायों से होता है। किसी भी पदार्थ के परिणमन को अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना काल की अपेक्षा से ही हो सकता है।

अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जहां श्वेताम्बर परम्परा में नैश्चयिक काल को केवल जीव और अजीव की पर्याय के रूप में माना गया है, वहीं दिगम्बर परम्परा में वास्तविक द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

6.4.4 काल का लक्षण

उत्तराध्ययनसूत्र में काल के लक्षण के संदर्भ में कहा गया है—**'वर्तना लक्खणो कालो'** अर्थात् 'वर्तन' काल का लक्षण है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में काल को परिभाषित करते हुए लिखा है कि—**'वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य'** अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व के द्वारा काल को जाना जाता है। जैनसिद्धान्त दीपिका में भी इसी प्रकार का उल्लेख है—

''वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वादिभिर्लक्ष्यः।''

इस प्रकार जैनदर्शन में काल को समझने के लिए पांच लक्षण बताये गये हैं—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व।

1. वर्तना—वर्तना का अर्थ वर्तमान रहना है अर्थात् पदार्थ का अस्तित्व कुछ अवधि तक रहने से है। यह अवधि काल का ही सूचक है। यद्यपि काल किसी भी द्रव्य को अस्तित्व प्रदान नही करता अपितु जिस अवधि तक द्रव्य या पदार्थ रहता है, वह काल से ही सम्बंधित है। अतीत और भविष्य को भी हम काल से ही जानते हैं क्योंकि अतीत भी कभी वर्तमान था और भविष्य भी कभी वर्तमान होगा। अत: हर प्रकार का अस्तित्व 'वर्तना' का सूचक है और इसी के द्वारा काल को पहचाना जाता है।

2. परिणाम—परिणाम से तात्पर्य अवस्थाओं के परिवर्तन से है। पदार्थों का नाना रूपों में परिणमन होना परिणाम है। बचपन, जवानी और बुढ़ापा यह काल के परिणाम के द्वारा ही संभव है। संसार के हर पदार्थ में हर क्षण परिवर्तन होता रहता है, वह परिवर्तन ही काल का रूप है। कोई कच्चा आम समय पाकर पक जाता है। आम की दोनों अवस्थाएं एक समय में ही नहीं होती हैं। बिना काल परिवर्तन के एक ही वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण नहीं आ सकते। अत: यह कहना उपयुक्त ही है कि काल के कारण हर पदार्थ में प्रतिक्षण सहज परिवर्तन होता रहता है।

3. क्रिया—चंक्रमण आदि करना क्रिया है। क्रिया से गति आदि का समावेश होता है। 'गति' का अर्थ है—आकाश प्रदेशों में क्रमश: स्थान परिवर्तन करना। अत: किसी भी पदार्थ की गति में स्थान परिवर्तन का विचार उसमें लगने वाले काल के साथ किया जाता है। काल हमारी हर क्रिया में सहयोगी है। काल के अभाव में अन्य सभी निमित्त होने के बावजूद भी वह क्रिया नहीं हो पाती। अत: हर क्रिया के लिए समय आवश्यक है।

4-5. परत्व और अपरत्व—परत्व का अर्थ प्राचीन और अपरत्व का अर्थ नवीन है। पहले होना परत्व और बाद में होना अपरत्व है। सिंधु घाटी की सभ्यता वैदिक सभ्यता से पुरानी है और वैदिक सभ्यता सिंधुघाटी से नवीन है—यह तथ्य भी बिना काल के नहीं समझा जा सकता। काल के द्वारा ही छोटे-बड़े का भेद समझा जा सकता है। इसलिए परत्व और अपरत्व—ये दोनों काल के ही लक्षण हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि काल को हम सीधे नहीं पकड़ सकते, पर ये पांच ऐसे लक्षण हैं या काल के उपकार हैं, जिनसे स्पष्ट रूप से हम काल को जान सकते हैं तथा उसके अस्तित्व को पहचान सकते हैं।

6.4.5 काल के विभाग

काल के दो विभाग—नैश्चयिक एवं व्यवहारिक काल का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहां ठाणं के आधार पर हुए काल के चार विभागों का उल्लेख आवश्यक है— 1. प्रमाण काल, 2. यथायुनिर्वृत्ति काल, 3. मरण काल, 4. अद्धा काल।

1. प्रमाण काल—काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण काल कहते हैं।

2. यथायुनिर्वृत्ति काल—जीवन और मृत्यु भी काल सापेक्ष है, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुनिर्वृत्ति काल कहते हैं।

3. मरण काल—जीवन के अंत को मरण काल कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. अद्धा काल — अद्धा काल सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बंध रखने वाला काल है। यह व्यावहारिक और गणनात्मक है। भगवती सूत्र के अनुसार 'समय' से लेकर 'पुद्गल परावर्त' तक के सारे कालमान अद्धा काल हैं। जीव-अजीव की पर्याय रूप निश्चय काल लोकालोक व्यापी है, जबकि अद्धाकाल केवल मनुष्य लोक में ही होता है। इसलिए मनुष्य लोक को समय क्षेत्र कहा जाता है। सूर्य, चन्द्र आदि की गति से अद्धाकाल का माप किया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार लोक के मध्य भाग में तिर्यंच लोक अवस्थित है। उसमें असंख्य द्वीप समुद्र है। इनमें से केवल अढ़ाई द्वीप के क्षेत्र को ही 'समय क्षेत्र' कहा गया है, क्योंकि सूर्य, चन्द्र आदि की गति केवल यहां तक सीमित है।

6.4.6 काल के अन्यमान

समय से लेकर पुद्गल-परावर्त तक के विभिन्न कालमानों का उपयोग जैनदर्शन में विविध संदर्भों में मिलता है। इनमें से कुछ कालमान 'संख्यात काल' की श्रेणी में हैं तो अन्य असंख्यात काल या अनन्त काल की श्रेणी में हैं, जिसका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है —

अविभाज्य काल	-	एक समय
असंख्यात समय	-	एक आवलिका
256 आवलिकाएं	-	एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)
17 क्षुल्लक भवों	-	एक प्राण या एक श्वासोच्छवास
7 प्राण	-	एक स्तोक
7 स्तोक	-	एक लव
38½ लव	-	एक घड़ी (24 मिनट)
77 लव	-	दो घड़ी अथवा एक मुहूर्त्त (48 मिनट)
30 मुहूर्त्त	-	एक दिन-रात (अहोरात्रि)
15 दिन	-	एक पक्ष
2 पक्ष	-	एक मास
2 मास	-	एक ऋतु
3 ऋतु	-	एक अयन
2 अयन	-	एक वर्ष
5 वर्ष	-	एक युग
संख्यात वर्ष	-	एक पल्योपम
10 क्रोड़ाक्रोड़ पल्योपम	-	एक सागरोपम
20 क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम	-	एक कालचक्र
अनन्त कालचक्र	-	एक पुद्गल परावर्त

कालद्रव्य की दृष्टि से-अनन्त द्रव्य।

क्षेत्र की दृष्टि से-अढ़ाई द्वीप प्रमाण।

काल की दृष्टि से-अनादि अनन्त।

भाव की दृष्टि से- अरूपी

गुण की दृष्टि से- वर्तन गुण

पल्योपम का आकलन करने के लिए जैन परम्परा में एक उपमा का उल्लेख मिलता है। एक चार कोश का लम्बा-चौड़ा और गहरा कुआं है, उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशों को, जो मनुष्य केश के 2401 हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, असंख्य खण्ड कर ठसाठस भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केशखण्ड निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआं खाली हो, उतने काल को एक पल्योपम कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.0 जीव

जीव द्रव्य की दृष्टि से-अनन्त द्रव्य
जीव क्षेत्र की दृष्टि से-लोक परिमाण
जीव काल की दृष्टि से-अनादि अनन्त
जीव भाव की दृष्टि से-अरूपी
जीव गुण की दृष्टि से-चैतन्य गुण

दार्शनिक जगत् में प्राय: जीवतत्व को किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों में स्वीकार किया गया है। अपवाद रूप में चार्वाक चार जड़ तत्त्वों से ही चेतना की भी उत्पत्ति स्वीकार करता है। उसके अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु ही मूल जड़ तत्त्व हैं और जब ये मिलते हैं तो चेतना की उत्पत्ति होती है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी पंच स्कन्धों के समूह की रूप से आत्मा को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार संज्ञा, संस्कार, रूप, वेदना और विज्ञान मिलकर आत्मा बनते हैं और अलग होकर आत्मा के अस्तित्व को नष्ट करते हैं। सांख्य पुरुष के रूप में नित्य आत्मा को स्वीकार करता है। वह अनेकात्मवादी है। न्याय-वैशेषिक भी अनेकात्मवादी हैं और नित्य आत्मा को मानते हैं परन्तु चेतना को आत्मा का स्वरूप लक्षण न मानकर आगन्तुक लक्षण मानते हैं। जैन और वेदान्त चेतना को आत्मा का स्वरूपलक्षण मानते हैं किंतु वेदान्त जहां एकात्मवादी है, वहीं जैन अनेकात्मवादी। जैनदर्शन में आत्मा को जीव कहा गया है। यह छ: द्रव्यों में अकेला द्रव्य है जो चेतन है, शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। जो जीव कर्म पुद्गलों से आबद्ध होकर संसार में भटकता रहता है, उसे संसारी जीव कहा गया है और जो कर्मपुद्गलों से पूरी तरह सदा के लिए अलग हो जाता है वह जीव मुक्त कहलाता है। मुक्त जीव लोकाग्र में सिद्धशिला में निवास करता है, उसे पुन: संसार में आने की जरूरत नही पड़ती है। इस प्रकार जैनदर्शन मे संसारी और मुक्तजीव की अवधारणा प्रसिद्ध है। विशेष विवरण जीव द्रव्य नामक पृथक् अध्याय में दिया जायेगा।

8.0 पुद्गल

पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से-अनन्त द्रव्य
पुद्गल क्षेत्र की दृष्टि से-लोक परिमाण
पुद्गल काल की दृष्टि से-अनादि अनन्त
पुद्गल भाव की दृष्टि से- रूपी
पुद्गल गुण की दृष्टि से-गलन मिलन स्वभाव

दार्शनिक मन्तव्य के अनुसार यदि चेतन तत्त्व सत् है तो उसके प्रतिपक्ष में जड़तत्त्व का भी अस्तित्व स्वत: सिद्ध है। उसी जड़ द्रव्य के रूप में जैनदर्शन में पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व भी स्वत: सिद्ध है। **'पूरण गलन धर्मा इति पुदगल:'** अर्थात् जिसमें मिलने और गलने का धर्म है, वह पुद्गल है। दूसरे शब्दों में कहें कि जो विकास और ह्रास को प्राप्त हो, वह पुद्गल है। विकास करते-करते यह महाचित स्कन्ध को प्राप्त होता है और ह्रास करते-करते यह परमाणु की स्थिति को प्राप्त होता है। परमाणु पुद्गल की सबसे सूक्ष्म इकाई है। यह अविभाज्य एवं अप्रत्यक्ष है। इस प्रकार पुद्गल का सूक्ष्म सिरा परमाणु और विराट् सिरा महाचित स्कन्ध है। संसारी जीवन के लिए पुद्गल का भी अपना महत्त्व है। हर संसारी व्यक्ति के हर कदम पर पुद्गल आवश्यक है। प्रात:काल उठने से लेकर रात्रि में सोने तक संसारी प्राणियों का जीवन बिना पुद्गल के चल ही नहीं सकता अत: पुद्गल का वैशिष्ट्य भी स्वत:सिद्ध है। पुद्गल का विस्तृत विवेचन पृथक अध्याय में दिया गया है।

सारांश

अंत में हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन में द्रव्य विचार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। बिना छ: द्रव्यों के लोक की व्यवस्था भी संभव नहीं है। जैनदर्शन में **'षड्द्रव्यात्मको लोक:'** कहकर छ: द्रव्यों को संसार के लिए आवश्यक माना गया है। प्रस्तुत अध्याय में इनका विवेचन करते हुए हमने देखा कि हर द्रव्य, गुण और पर्याय युक्त होता है। द्रव्य, गुण और पर्याय आपस में एक ही हैं तो पृथक् भी हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय में न तो कोरा भेद सम्बन्ध है और न ही अभेद सम्बन्ध अपितु भेदाभेद का सम्बन्ध है। छ: द्रव्यों का अध्ययन करते हुए अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि हर द्रव्य की अपनी उपयोगिता एवं महत्त्व है। किसी द्रव्य के मूल्य को कम करके नहीं आंका जा सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

अभ्यास के प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. द्रव्य, गुण एवं पर्याय के स्वरूप एवं सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।

अथवा

छह द्रव्यों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. काल के स्वरूप एवं भेद को स्पष्ट कीजिए।
2. आकाशास्तिकाय के स्वरूप को समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. काल के सूक्ष्मतम भाग को क्या कहते हैं?
2. किस ग्रंथ में कहा गया है कि गुण समुदाय रूप द्रव्य हैं?
3. "गुण पर्यायाश्रयो द्रव्यम्"किस ग्रन्थ की परिभाषा है?
4. अलोकाकाश सान्त है या अनन्त?
5. आकाश का विशेष गुण क्या-क्या है?
6. जैनदर्शन में सामान्य गुण कितने माने गये हैं?
7. धर्म का विशेष गुण क्या है?
8. काल अस्तिकाय है या अनस्तिकाय?
9. द्रव्य के जीव और अजीव भेद किस ग्रंथ में हुए हैं?
10. पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप क्या है?

संदर्भ पुस्तक:

1. ठाणं (स्थानांग सूत्र)
2. द्रव्य संग्रह — नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती।
3. द्रव्यानुयोग तर्कणा — भोजसागर।
4. जैन सिद्धान्त दीपिका — आचार्य तुलसी
5. जैनदर्शन मनन और मीमांसा — आचार्यश्री महाप्रज्ञ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग : 3

जीव स्वरूप, जीवसिद्धि, जीव के प्रकार विभिन्न दृष्टि से जैनदर्शन में जीव

संरचना

उद्देश्य

प्रस्तावना

1.0 जीव : व्युत्पत्तिपरक अर्थ

2.0 विभिन्न भारतीय दर्शनों में जीव (आत्मा)

- 2.1 चार्वाक दर्शन में आत्मा
- 2.2 बौद्ध दर्शन में आत्मा
- 2.3 सांख्य दर्शन में आत्मा
- 2.4 न्याय-वैशैषिक दर्शन में आत्मा
- 2.5 वेदान्तदर्शन में आत्मा

बोध प्रश्न

3.0 विभिन्न पाश्चात्य दर्शनों में आत्मा

- 3.1 प्लेटों के दर्शन में आत्मा
- 3.2 अरस्तू के दर्शन में आत्मा
- 3.3 डेकार्ट के दर्शन में आत्मा
- 3.4 लाइबनीज के दर्शन में आत्मा
- 3.5 ह्यूम के दर्शन में आत्मा
- 3.6 काण्ट के दर्शन में आत्मा

4.0 जैन दर्शन में जीव का स्वरूप

- 4.1 उपयोगमय स्वरूप
  - 4.1.1 साकार उपयोग के आठ भेद
  - 4.1.2 अनाकार उपयोग के चार भेद
- 4.2 अमूर्त्त स्वरूप
- 4.3 कर्त्ता स्वरूप
- 4.4 देह परिणाम स्वरूप
- 4.5 भोक्ता स्वरूप
- 4.6 आत्मा का संसारी रूप
- 4.7 जीव का सिद्ध (मुक्त) स्वरूप
- 4.8 आत्मा का उर्ध्वागामित्व स्वरूप
- 4.9 परिणामीनित्यत्य स्वरूप
- 4.10 स्व-पर प्रकाशक स्वरूप
- 4.11 प्रभु स्वरूप
- 4.12 आत्मा बहुत्व स्वरूप

बोध प्रश्न

5.0 जीव सिद्धि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.1 स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से
5.2 उपादान कारण से
5.3 सत् प्रतिपक्ष के रूप में
5.4 शरीर के अधिष्ठाता के रूप में
5.5 संकलनात्मक ज्ञान से
5.6 संशय से
5.7 श्वासांच्छ्वास कार्य से
5.8 सकलप्रत्यक्ष से
5.9 गुणों के आधार पर
5.10 गौण कल्पना से
5.11 स्मृति से
5.12 ग्राहक रूप से
5.13 विशेष गुण से
5.14 परलोकी के रूप में
5.15 कर्त्ता के रूप में

बोध प्रश्न

6.0 जीव के प्रकार
6.1 जीव के एक प्रकार
6.2 जीव के दो प्रकार
6.3 जीव के तीन प्रकार
6.4 जीव के चार प्रकार
6.5 जीव के पांच प्रकार
6.6 जीव के छः प्रकार
6.7 जीव के चौदह प्रकार

सारांश

अभ्यास के प्रश्न

उद्देश्य – इस इकाई के अध्ययन से हम–

1. जीव अर्थात आत्मा के अर्थ को समझ सकेंगे।
2. विभिन्न दर्शनों के अनुसार आत्मा का स्वरूप जान सकेंगे।
3. जैन दर्शन के अनुसार जीव के स्वरूप का सांगोपांग जानकारी कर सकेंगे।
4. जैन दर्शन के अनुसार जीव को सिद्ध कर सकेंगे।
5. भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जीव के प्रकार को जान सकेंगे।

प्रस्तावना

इस दृश्य जगत् में जब से मानव ने आंखें खोली, तभी से उसके समक्ष एक प्रश्न उठता रहा है कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और अंत में कहां जाऊंगा? इसी प्रश्न ने उसे अपने आपको जानने के लिए प्रेरित किया। इसी 'मैं' के विमर्श से 'आत्मतत्त्व' को जानने की प्रक्रिया शुरू हुई। इसी आत्मतत्त्व को जैनदर्शन 'जीव' के रूप में, सांख्य दर्शन पुरुष के रूप में और अन्य दर्शन आत्मा के रूप में अभिहित करते हैं। जीवविचार अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन के केन्द्र में है। जैनदर्शन में जीव और अजीव तत्त्व मूल में माने गये हैं। यहां जीव तत्त्व की विस्तार में मीमांसा की जा रही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.0 जीव :व्युत्पत्तिपरक अर्थ

भ्वादिगणीय 'जीव' धातु से भाव में घञ् प्रत्यय के योग से जीव शब्द बना है। 'जीवनम् इति जीव:' अर्थात् जीवन या प्राण धारण करने को जीव कहते हैं। जैन वाङ्मय में जीव के अनेक पर्यायवाची नामों का निर्देश मिलता है। भगवतीसूत्र में जीव, प्राण, भूत, सत्व, विज्ञ, वेत्ता, चेता, जेता, आत्मा आदि अनेक नामों का निर्देश है। धवलाकार ने भी जीव के पर्यायवाचक शब्दों का उल्लेख किया है। महापुराण में भी जीव, प्राणी, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, अन्तरात्मा, ज्ञानी आदि अनेक जीवार्थक शब्द प्रयोग में आये हैं।

2.0 विभिन्न भारतीय दर्शनों में जीव (आत्मा)

सभी भारतीय दर्शन चूंकि अध्यात्मवादी हैं, इसलिए सबके केन्द्र में 'जीव' या आत्मा का चिंतन रहा है। सभी ने किसी न किसी रूप में आत्मा पर अवश्य प्रकाश डाला है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य मोक्ष है। अत: सबके केन्द्र में आत्मा ही है क्योंकि मोक्ष का सीधा सम्बन्ध आत्मा से ही है। प्रश्न उठता है कि मुक्ति किसकी? उत्तर के रूप में 'जीव' अर्थात् आत्मा का अस्तित्व स्वत: सामने आता है। सभी भारतीय दर्शन आत्मा में आस्था रखते हैं, अपने चिंतन के केन्द्र में आत्मा को रखते हैं इसलिए वे अध्यात्मवादी भी कहलाते हैं। यहां हमारा उद्देश्य सभी दर्शनों की संक्षिप्त आत्म मीमांसा को प्रस्तुत करना है।

2.1 चार्वाक दर्शन में आत्मा

चार्वाक दर्शन भौतिकवादी दर्शन है। यहां चार भौतिक या जड़तत्त्व ही मूल तत्त्व हैं— ''पृथिवीरप्तेजवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा''। अत: पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये चार ही मूल तत्त्व हैं। इन्हीं से शरीर, इन्द्रिय एवं संसार के सभी तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। इन्हीं से चेतना की भी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार चार्वाक चार जड़ तत्त्वों को ही चेतना का भी कारण मानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि चेतन तत्त्व नित्य, शाश्वत नहीं है। यह उत्पन्न और नष्ट होता है। प्रश्न यह उठता है कि जड़ तत्त्व से चेतना की उत्पत्ति कैसे हो सकती है तो चार्वाक दर्शन में कहा गया है—

''जड़भूतविकारेसु चैतन्यं यत्तु दृश्यते रज:।
ताम्बूलपूगचूर्णानां रागादिवोत्थितम्।।''

अर्थात् जैसे पान, सुपारी और चूना में से लालिमा किसी में नहीं हैं किंतु जब ये आपस में मिल जाते हैं तो लालिमा की उत्पत्ति स्वत: हो जाती है। उसी प्रकार चारों जड़ तत्त्वों में चेतना नहीं है किंतु इनके मिलने से चेतना की उत्पत्ति होती है। चार्वाक चूंकि नित्य आत्मा को नहीं मानता अत: वह मृत्यु को ही मोक्ष मानता है। वह पुनर्जन्म में भी विश्वास नहीं करता है। 'पुनरागमनं कुत:' कहकर पुनर्जन्म का भी खण्डन करता है। इससे यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि चार्वाक निरा जड़वादी दर्शन है। उसके मत में जीव या आत्मा का चिंतन भी बिल्कुल अलग तरीके से हुआ है।

2.2 बौद्ध दर्शन में आत्मा

बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है, यह उनके दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि कुछ भी शाश्वत नही है। सब कुछ उत्पन्न और नष्ट होता है अर्थात् सब कुछ अनित्य एवं क्षणिक है। आत्मा भी अनित्य है। बौद्ध दर्शन का 'अनात्मवाद' प्रसिद्ध है। अनात्मवाद से तात्पर्य 'न आत्मा अनात्मा' अर्थात् आत्मा नहीं है, ऐसा नहीं है अपितु अनात्मवाद से तात्पर्य है 'न नित्यात्मा अनात्मा' अर्थात् नित्य आत्मा नहीं है। आत्मा पांच स्कन्धों का समूह है। वे पंच स्कन्ध हैं—वेदना, संज्ञा, रूप, संस्कार और विज्ञान। जब ये पाचों मिलते हैं तो आत्मा कहलाते हैं और जब ये अलग हो जाते हैं तो आत्मा नष्ट हो जाती है। 'मिलिन्दपह्नों' ग्रंथ में बौद्ध भिक्षु नागसेन और राजा मिनाण्डर के वार्तालाप से इस प्रकार को आत्मा का चित्रण हुआ है। गौतम बुद्ध मध्यम प्रतिपदावादी थे। वे शाश्वत आत्मा को नही मानते थे और न ही आत्मा का निषेध करते थे, अत: आत्मा के संदर्भ में प्रश्न पूछे जाने पर वे मौन रहते थे। बौद्ध दर्शन में आत्मा की स्वीकृति के संदर्भ में कहा गया है—जैसे बिल्ली अपने बच्चे को अपने मुंह में न अति कठोरता से दबाती है कि बच्चा आहत हो जाये और न अतिशिथिलता से दबाती है कि बच्चा गिरकर चोट ग्रस्त हो जाए अपितु मध्यम रूप में दबाती है, वैसे ही यहां आत्मा की स्वीकृति है। यहां नित्यात्मा न मानने के कारण निर्वाण में आत्मा की मुक्ति न मानकर आत्मा से मुक्ति माना गया है। अर्थात् निर्वाण पूर्णतया शांत अवस्था है। यहां आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रहता। कहा गया है—''दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिंनचान्तरिक्षम्। दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेव शांतिम्।।'' अर्थात् जैसे बुझा हुआ दीपक न पृथ्वी पर, न अंतरिक्ष में, न दिशा-विदिशा में कहीं नहीं रह जाता, वैसे ही राग-द्वेष मुक्त आत्मा का भी कहीं अस्तित्व नहीं रह जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.3 सांख्य दर्शन में आत्मा

सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा नित्य, शाश्वत है। आत्मा के स्वरूप के सम्बंध ा में सांख्यकारिका में कहा गया है—

''तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च।।''

अर्थात् आत्मा नित्य है, अमूर्त्त है, चेतन है, साक्षी है, कैवल्यस्वरूप है, तटस्थ है, द्रष्टा है, भोक्ता है और अकर्त्ता है। सांख्य दर्शन में आत्मा को अकर्त्ता के साथ भोक्ता कहा गया है। प्रश्न यह उठता है कि जो अकर्त्ता है, वह भोक्ता कैसे है? सांख्य दार्शनिक 'बालहुताशनतरव:' का दृष्टान्त देकर अकर्त्ता के साथ आत्मा का भोक्ता होना सिद्ध करते हैं। जैसे बालक कुछ नहीं करता है किंतु मां उसे दूध, शहद आदि का पान कराती है। अग्नि और वृक्ष जिसका उपभोग करते हैं वे उनका निर्माण नहीं करते हैं अत: ये जैसे भोक्ता हैं, किंतु कर्त्ता नहीं उसी प्रकार पुरुष (आत्मा) भी भोक्ता है किंतु कर्त्ता नहीं है। सांख्यदर्शन में आत्मा संख्या में अनेक हैं। सांख्यदर्शन में आत्मा की अनेकता के संदर्भ मे कहा गया है—

''जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्याच्चैव।।''

अर्थात् जन्म, मृत्यु और इन्द्रियों की व्यवस्था से आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है। आत्मा यदि एक होती तो एक के जन्म लेने से सारे जन्म लेते, एक की मृत्यु से सारे मरते और एक के अंधे, लूले, लंगड़े होने से सारे अंधे, लूले और लंगड़े होते। किंतु ऐसा नहीं होता है अत: आत्मा एक नहीं अनेक है। यदि आत्मा एक है तो एक के उठने, बैठने, हंसने, खेलने से सभी हंसते, उठते, बैठते, बोलते किंतु ऐसा नहीं होता है अत: आत्मा अनेक हैं। यदि आत्मा एक है तो उसमें तीनों गुणों का जैसा स्वरूप है वैसा सबमें होता किंतु ऐसा नहीं है। कोई सुखी है, कोई दु:खी है, कोई मोह में है। सबके अलग-अलग गुण होने से आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है। अत: सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा अनेक है। सांख्यदर्शन में मुक्तात्मा को त्रिगुणातीत (सत्, रज एवं तम से रहित) माना गया है।

2.4 न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा

न्याय वैशेषिक दर्शन में आत्मा को नित्य एवं विभु माना गया है। इनके अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है, जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख-दु:ख, राग-द्वेष, इच्छा, कृति या प्रयत्न आदि गुण के रूप में वर्तमान रहते हैं। ये जड़ द्रव्यों के गुणों की तरह नहीं है क्योंकि ये बाह्य इन्द्रियों से बोधगम्य नहीं हो सकते। ज्ञान या चैतन्य आत्मा का एक गुण है, फिर भी हम इसे आत्मा का स्वरूप नहीं मान सकते। क्योंकि आत्मा में चेतना का संचार तब होता है, जब उसका मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है। ऐसा न होने पर आत्मा में चैतन्य का उदय नहीं हो सकता। आत्मा जब शरीर मुक्त होता है तब उसमें ज्ञान का अभाव रहता है। अत: यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण न होकर आगंतुक लक्षण है। चूंकि चेतना आगंतुक धर्म है अत: मुक्तात्मा में यह चेतना नहीं रह सकती और कोई नया स्वरूप भी नहीं प्राप्त होता है। इसलिए व्यंग्य में यह कहा जाता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा को मुक्त करने की अपेक्षा श्रृगाल (सियार) बनकर वृन्दावन की हरी-हरी घास चरना अधिक अच्छा है।

2.5 वेदान्त दर्शन में आत्मा

वेदान्त दर्शन में आत्मा त्रैकालिक सत् है। चेतना आत्मा का स्वरूप लक्षण है न कि आगंतुक लक्षण। यहां ब्रह्म और आत्मा को एक माना गया है। 'तत्त्वमसि' अर्थात् आत्मा ब्रह्म है आदि औपनिषदिक वाक्यों से आत्मा और ब्रह्म की एकरूपता सिद्ध की गई है। ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' वाक्य भी जोव और ब्रह्म की एकरूपता को प्रतिपादित करते हैं। वह आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है अर्थात् सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है।

यहां आत्मा को अनेक न मानकर एक माना गया है। एक ही आत्मा सब जगह व्याप्त है। कहा भी गया है—'एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थित:' अर्थात् आत्मा एक है और सभी में स्थित है। अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार यह एक आत्मा अविद्या आदि के द्वारा अनेक प्रतीत होता है अन्यथा यह 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् एक ही है और अद्वितीय है। जिस प्रकार एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चन्द्र का प्रतिबिम्ब विभिन्न जलपात्रों में पड़ने पर वह अनेक रूप में दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार एक आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ने से वह अनेक प्रतीत होता है। वेदान्त के अनुसार अनेकात्मवाद की कल्पना अज्ञान के कारण है।

बोध प्रश्न

सांख्यदर्शन में आत्मा एक है या अनेक?

3.0 विभिन्न पाश्चात्य दर्शनों में आत्मा

पाश्चात्य दर्शन का प्रारंभ जड़वाद से होता है। सुकरात पूर्व युग के प्राय: दार्शनिक जड़वादी थे। उन्होंने जड़ को ही मूल द्रव्य मानकर उसी से सारे संसार की उत्पत्ति को स्वीकार किया था। सुकरात पूर्व युग में दर्शन को अन्तर्मुखी बनाने का यदि किसी प्रथम दार्शनिक को श्रेय है तो वह है एनेक्जेगोरस। उसने सर्वप्रथम सृष्टि का कारण एक चेतन शक्ति को माना और उस चेतन शक्ति का नामकरण परम विज्ञान (Nous) किया। पाश्चात्य दर्शन में एनेक्जेगोरस का महत्त्व इसीलिए है कि उसने सर्वप्रथम चेतन द्रव्य की कल्पना की और उसी को सृष्टि का कारण माना।

3.1 प्लेटो के दर्शन में आत्मा

पाश्चात्य दर्शन में आत्मा का व्यवस्थित चिंतन सर्वप्रथम प्लेटो के दर्शन में हुआ है। प्लेटो ने रिपब्लिक ग्रंथ में आत्मा का व्यवस्थित चित्रण किया है। उनके अनुसार आत्मा और जीवन पर्यायवाची हैं। जड़ वस्तुओं में जो सक्रियता और गति दिखलाई पड़ती है उसका मूल आत्मा ही है। किंतु यह प्रकृति की गति के साथ-साथ स्वयं की गति का भी मूल है। यही स्वगति आत्मा का स्वभाव है। उसके अनुसार जीवात्मा और विश्वात्मा में पर्याप्त समानता है। अन्तर केवल इतना है कि जीवात्मा अपूर्ण है, विश्वात्मा पूर्ण है। प्लेटो ने आत्मा को एक समग्र माना है किंतु इसके विभिन्न कार्य हैं, इसलिए आत्मा के तीन विभाग भी हैं—

1. बौद्धिक आत्मा, 2. कुलीन आत्मा, 3. अकुलीन आत्मा।

फेइड्रास ग्रंथ में उसने आत्मा के तीनों भागों की तुलना रथ के घोड़ों और उसके सारथी से की है। उसके अनुसार मनुष्य में आत्मा के तीनों भाग हैं। पशुओं में आत्मा के दो भाग हैं तथा पेड़-पौधों, वनस्पतियों में केवल अकुलीन भाग ही है। वह आत्मा को अजर एवं अमर भी मानता है। उसने गति, ज्ञान, स्मृति एवं आवागमन आदि तर्कों से आत्मा की अमरता को सिद्ध किया है। अपने ग्रंथ 'मेनो' में आत्मा की अमरता की सिद्धि के लिए वह एक उदाहरण देता है कि एक व्यक्ति सुकरात के पास आता है और गणित का एक प्रश्न पूछता है। सुकरात ने उसे कुछ भी नहीं बताया और वह व्यक्ति इस जन्म में गणित पढ़ा भी नहीं था किंतु सुकरात के कुछ प्रश्न पूछने से उस व्यक्ति ने स्वयं सवाल का हल ढूंढ लिया। अत: प्लेटो इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वह व्यक्ति अपने पूर्व जन्म में गणितज्ञ रहा होगा। सुकरात ने अपनी प्रश्नोत्तर शैली से उसका स्मरण करवाया और उसने निष्कर्ष निकाल लिया। अत: आत्मा की अमरता सिद्ध होती है।

3.2 अरस्तु के दर्शन में आत्मा

अरस्तु ग्रीक युग का सबसे महान दार्शनिक माना जाता है। उसका आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त काफी व्यापक है। वह क्षमताओं के आधार पर आत्मा के तीन भेद करता है—

1. अभिवर्धक आत्मा (Nutritive Soul), 2. संवेदन आत्मा (Sensitive Soul), 3. बौद्धिक आत्मा (Rational Soul)।

उसके अनुसार इस जैविक जगत् में वे प्राणी निम्नतम श्रेणी में है, जिनका एकमात्र कार्य अपना पोषण और अपनी जाति का प्रजनन करना है। इस श्रेणी में पौधे आते हैं। अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि अरस्तु के अनुसार अभिवर्धक या पोषक आत्मा वनस्पतियों में है। वह पशुओं में पोषक और संवेदनात्मक आत्मा दोनों मानता है। अभिवर्धन और प्रजनन में तो पशु और पौधे एक समान हैं किंतु उसके अनुसार पशुओं में संवेदन गुण विशिष्ट है, जो पौधों में नही पाया जाता। अत: इन्द्रिय प्रत्यक्ष पशुओं का विशिष्ट व्यापार है। अत: पशुओं में अभिवर्धक और संवेदनात्मक दोनों आत्माएं हैं। मनुष्यों में वह तीनों आत्माएं मानता है। मनुष्य जाति अपना पोषण भी करती है, संवर्धन करती है और बुद्धिमत्ता उसका विशिष्ट गुण है। इस बौद्धिक आत्मा को विकास की दृष्टि से कल्पना, स्मृति, अनुस्मृति, निष्क्रिय एवं सक्रिय बुद्धि के रूप में भी विभक्त किया है। उसके अनुसार सक्रिय बुद्धि अविनाशी एवं नश्वर है। यह अनादि और अनंत है। यह बाहर से शरीर में प्रवेश करता है और मौत के समय शरीर से निकलकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ईश्वर में प्रवेश कर जाता है। अत: यह कहा जा सकता है कि सक्रिय बुद्धि के रूप में वह आत्मा की अमरता को स्वीकार करता है और निष्क्रिय बुद्धि तक सभी आत्मा के रूप उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं।

3.3 डेकार्ट के दर्शन में आत्मा

डेकार्ट के दर्शन में आत्मवाद से सम्बंधित प्रमुख कथन है—''मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं'' अर्थात् मेरी आत्मा का अस्तित्व मेरे चिंतन पर है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह आत्मा को ज्ञेय मानता है, अज्ञेय नहीं। उसके अनुसार आत्मा नित्य, अभौतिक एवं अप्रसारित है। आत्मा का स्वरूप चेतना का है। वह यह मानता है कि आत्मा, शरीर से पूर्णतया भिन्न है। आत्मा इस पुरातत् नाड़ी में स्थित होकर यह सम्पूर्ण शरीर को सक्रिय करता है।

डेकार्ट आत्मा को बुद्धि तक ही सीमित करता है। तभी तो वह पशुओं में आत्मा नहीं मानता है। वह केवल मनुष्यों में ही आत्मा मानता है। इससे सिद्ध होता है कि उसके दर्शन में आत्मा केवल बौद्धिक मात्र है। डेकार्ट के आत्मा सम्बन्धी विचार पर व्यंग्य करते हुए कहा गया है कि उसने मरते हुए पशु की चीत्कार और टूटे हुए यंत्र की खड़खड़ाहट में कोई अन्तर नहीं किया है। काण्ट ने कहा कि डेकार्ट ने अज्ञेय आत्मा को ज्ञेय बनाकर सबसे बड़ी भूल की है।

3.4 लाइबनीज के दर्शन में आत्मा

लाइबनीज ने चिदणु को द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। वह चिदणु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मानता है अर्थात् जड़तत्त्व में लाइबनीज का विश्वास नहीं है। वह चेतन तत्त्व को ही मानता है। उसका चेतन द्रव्य ही चिदणु है, जिसकी विस्तृत व्याख्या उसने अपने ''मोनोडोलोजी'' ग्रंथ में किया है। वह जिस चेतन तत्त्व को स्वीकार करता है, उसके निम्न स्तर किये हैं—

1. अचेतन, 2. उपचेतन, 3. चेतन, 4. स्वचेतन, 5. सर्वचेतन।

उसके अनुसार अचेतन का मतलब चेतना का अभाव नही है, अपितु ईषत् चेतना से है। वह अचेतन में भी न्यूनतम चेतना को स्वीकार करता है, उपचेतन में उससे अधिक चेतना, चेतन में और अधिक चेतना, स्वचेतन में उससे अधिक चेतना और सर्वचेतन में सम्पूर्ण चेतना मानता है। उसके अनुसर यत्र-तत्र-सर्वत्र चेतना ही चेतना है। यह जगत् चेतना का समूह है। वह चेतना से परे कुछ नहीं मानता है। अत: हम यह कह सकते हैं कि लाइबनीज के अनुसार एकमात्र चेतनसत्ता ही सत् है।

3.5 ह्यूम के दर्शन में आत्मा

ह्यूम शुद्ध अनुभववादी दार्शनिक है। कहते हैं कि उसने अनुभववाद को चरम शिखर पर पहुंचा दिया था। वह अनुभव को ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानता है और उस अनुभव से किसी आत्मा का अनुभव न होने से वह आत्मा के अस्तित्व का ही निषेध करता है। उसके अनुसार आत्मा न तो रूप है कि उसे नेत्रेन्द्रिय से जाना जाये, न रस है कि रसनेन्द्रिय से जाना जाए, न स्पर्श है कि स्पर्शेन्द्रिय से जाना जाए, न गंध है कि घ्राणेन्द्रिय से जाना जाये और न शब्द है कि कर्णेन्द्रिय से जाना जाये। अत: आत्मा का ज्ञान किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता है, फिर आत्मज्ञान की बात करना मात्र कल्पना है। वह यह भी कहता है कि दार्शनिकों ने जिस नित्य आत्मा की बात की है, उसे पकड़ने और जानने के लिए मैंने अपने अन्तर में प्रवेश किया किंतु विचारों के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ मेरी पकड़ में नहीं आया। अत: उनके अनुसार—''The Soul is nothing but a bundle of perceptions'' अर्थात् विचारों, प्रत्यक्षों के समूह के अतिरिक्त और कोई नित्य आत्मा नहीं है। यदि कोई नित्य आत्मा होता तो अवश्य पकड़ में आता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आत्मा नित्य, शाश्वत नहीं है।

3.6 काण्ट के दर्शन में आत्मा

पाश्चात्य दार्शनिकों में काण्ट को समन्वयवादी दार्शनिक के रूप में जाना जाता है। उसने बुद्धिवाद और अनुभववाद के तीव्र विरोध को समाप्त कर उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया था। जहां बुद्धिवादी ज्ञान का एकमात्र स्रोत बुद्धि को मानते थे और अनुभववादी अनुभव को मानते थे, वहीं काण्ट ने ज्ञान के कारण के रूप में बुद्धि और अनुभव का समन्वय किया था। काण्ट आत्मवादी दार्शनिक है। उसके अनुसार—'The soul is transcendental synthetic unity of pure apperceptions अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय, समन्वयात्मक, अद्वय, विशुद्ध, अपरोक्षानुभूत है।

आत्मा अतीन्द्रिय है क्योंकि इसे इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। इसका कोई रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द नहीं है जिसके ज्ञान के लिए किसी इन्द्रिय को कारण रूप में स्वीकार किया जाये। विभिन्न शक्तियों के समन्वय के कारण आत्मा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

को समन्वयात्मक भी कहा जाता है। यह दो नहीं है अर्थात् एक है इसलिए इसे अद्वय भी कहा जाता है। यह शुद्ध है। इसमें किसी प्रकार का खोट नहीं है। इसका हमें प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। काण्ट के अनुसार आत्मा है किंतु अज्ञेय है। वह कहता है—'It is unknowable but undeniable' अर्थात् यह अज्ञेय है किंतु इसे नकारा नहीं जा सकता है। ज्ञान के साधन इन्द्रिय और बुद्धि की पहुंच आत्मा तक न होने के कारण आत्मा का ज्ञान नहीं होता है किंतु इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। अत: इसके अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है।

विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के जीव अर्थात् आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब आवश्यक प्रतीत होता है कि जैनदर्शन के जीव के स्वरूप पर प्रकाश डाला जाये।

4.0 जैनदर्शन में जीव का स्वरूप

अदृश्य एवं अमूर्त्त होते हुए भी आत्मा को प्राय: दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। यदि अन्य भारतीय दर्शन ईश्वरवादी हैं तो जैनदर्शन आत्मवादी है।

यहां जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर मिलन, ईश्वर सान्निध्य न होकर परमात्मा पद की प्राप्ति है। उपनिषदों में चैतन्यस्वरूप इस इन्द्रिय अग्राह्य आत्मा को अवक्तव्य माना गया है—**''स एष नेति-नेति यतो वाचो निवर्तन्ते, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्य:''**। उपनिषद् के इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा शब्दातीत है, पर स्वानुभव का विषय है। आचारांग में भी आत्मा के स्वरूप का कुछ ऐसा ही वर्णन मिलता है—**''सव्वे सरा नियट्टंति, तक्कातत्थ न विज्जई, मइ तत्थ न गाहिया''**। अर्थात् शब्द आत्मा तक नहीं पहुंच सकते, वे लौट आते हैं। चूंकि आत्मा अरूपी है, अत: उसे उपमा के द्वारा नहीं बताया जा सकता अत: आत्मा शब्दातीत है। अत: यह स्पष्ट है कि अमूर्त्त, अरूपी आत्मा का अस्तित्व अवश्य है। उसका निषेध नही किया जा सकता। उसके निषेध में ही उसका अस्तित्व सिद्ध है।

प्राय: दार्शनिक जीव की किसी एक विशेषता को ग्रहण करके उसे ही उसका स्वरूप मानकर चित्रित करते हैं किंतु जैनदर्शन में जीव का सर्वांगीण स्वरूप मिलता है। विविध दार्शनिकों के आत्मा सम्बन्धी मतों का समन्वय भी जैनदर्शन के जीव स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। द्रव्यसंग्रह में जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

''जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्स सोड्ढगई।''

अर्थात् आत्मा उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्त्ता है, देह परिमाण है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

4.1 उपयोगमय स्वरूप

जैन शास्त्रों में उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है, **'उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रतिव्यापर्यते जीवोऽनेनेति उपयोग:'**। अर्थात् जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद (परिज्ञान) अर्थात् बोध के लिए व्यापार करता है। वह उपयोग है। भगवती में कहा गया है—**'उवओग लक्खणे णं जीवे'** अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। दीपिका में जीव की परिभाषा-'उपयोग लक्षणो जीव:'।प्रश्न उठता है कि उपयोग क्या है? दीपिका के अनुसार **'चेतना व्यापारो उपयोग:'** अर्थात् चेतना का व्यापार ही उपयोग है। तत्त्वार्थ में **'चेतनालक्षणो जीव:'** कहकर जीव का स्वरूप लक्षण चेतना को माना गया है। नैयायिक चेतना को आत्मा का स्वरूप लक्षण न मानकर आगंतुक लक्षण मानते हैं, अत: वे ज्ञान को भी आत्मा का स्वभाव न मानकर बाहर से आता हुआ मानते हैं जबकि जैनदर्शन में आत्मा ज्ञानवान है। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सिद्धों तक में यह ज्ञान कम या अधिक रूप में अवश्य पाया जाता है। ज्ञान का पूर्ण विकास सिद्धों में होता है।

उपयोग दो प्रकार का है—साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। जैन सिद्धान्त दीपिका में **'साकारोऽनाकारश्च'** कहा गया है। चूंकि ज्ञान पर्यायों को ग्रहण करता है अत: उसे साकार उपयोग कहा जाता है, इसे सविकल्प उपयोग भी कहते हैं किंतु जहां पर्याय को गौण करके केवल ध्रौव्य धर्म को ग्रहण किया जाता है उसे अनाकार कहते हैं। इसे निर्विकल्प उपयोग भी कहते हैं।

4.1.1 साकार उपयोग के आठ भेद

साकार उपयोग के आठ भेद हैं। उनमें से 5 भेद के आधार पर पांच ज्ञानोपयोग हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. मतिज्ञान के आधार पर मतिज्ञानोपयोग
2. श्रुतज्ञान के आधार पर श्रुतज्ञानोपयोग
3. अवधिज्ञान के आधार पर अवधिज्ञानोपयोग
4. मन:पर्यवज्ञान के आधार पर मन:पर्यायज्ञानोपयोग
5. केवलज्ञान के आधार पर केवलज्ञानोपयोग

मतिज्ञानोपयोग—पांच इन्द्रियों एवं मन के द्वारा चेतना का जो व्यापार होता है, वह मतिज्ञानोपयोग है।मति ज्ञान मूक व स्वयं के लिए एवं वर्तमान कालिक होता है जब कि श्रुत ज्ञान शब्द मय, त्रैकालिक व दूसरों को बोध देने में सक्षम होता है।

श्रुतज्ञानोपयोग—शब्द, संकेत, शास्त्र आदि माध्यमों से इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञानोपयोग है।मति ज्ञान की प्रगाढ़ अवस्था ही श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञानोपयोग—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना चेतना के दर्पण पर मूर्त्त पदार्थो के जो बिम्ब उभरते है उन्हें पकड़ने वाला उपयोग अवधि ज्ञानोपयोग है। यह अतीन्द्रिय है इसमें तीव्र एकाग्रता की अपेक्षा रहती है। इसलिए इसका निरूक्त किया गया 'अवधानम् अवधि।

मन:पर्यवज्ञानोपयोग—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना सामने वाले व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं, आकृतियों को जानना मन:पर्ययज्ञानोपयोग है।यद्यपि विशिष्ट अवधिज्ञान से भी मन की अवस्था को जाना जा सकता है। पर मन:पर्यवज्ञान से जो बोध होता है वह अधिक स्पष्ट और विशद होता है। जैसे एक फिजिशियन आंख, नाक, गला आदि का परीक्षण करता है वैसे ही विशेषज्ञ भी करता है लेकिन दोनों की जांच व चिकित्सा में अन्तर रहता है। इसी प्रकार मन:पर्यवज्ञान की तुलना में साधारण अवधिज्ञान नहीं आ सकता।

केवलज्ञानोपयोग—आत्मा के द्वारा सीधे मूर्त्त और अमूर्त्त सभी पदार्थों के सब पर्यायों का सम्पूर्ण साक्षात ज्ञान करना केवल ज्ञानोपयोग है।

तीन अज्ञान पर आधारित उपयोग ये तीन प्रकार के हैं— 1. मति अज्ञान, 2. श्रुत अज्ञान, 3. विभंग अज्ञान।

ये मिथ्यादृष्टि के योग से अज्ञान कहलाते हैं। अज्ञान के प्रकरण में अवधि के स्थान पर विभंग का उल्लेख हुआ है। निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि मिथ्यात्वी का इन्द्रियजन्य ज्ञान मति अज्ञान, उसका शास्त्रीय ज्ञान, श्रुत अज्ञान और अतीन्द्रिय अवधि ा ज्ञान विभंग अज्ञान कहलाता है। मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान विशिष्ट साधकों के ही होते हैं अत: उन्हें मिथ्यादृष्टि व्यक्ति कभी नहीं पा सकता। इसलिए वे अज्ञान नहीं होते। अज्ञान में ज्ञान चेतना का ही उपयोग होता है पर पात्र भेद होने से अर्थात मिथ्या दृष्टि के योग से ये अज्ञान कहलाते हैं।

4.1.2 अनाकार उपयोग के चार भेद

अनाकार उपयोग के चार भेद हैं— 1. चक्षुदर्शन, 2. अचक्षुदर्शन, 3. अवधि दर्शन, 4. केवल दर्शन।

ज्ञान और दर्शन दोनों ही अवबोधक हैं फिर भी ज्ञान में वैशिष्ट्य स्थायित्व है और दर्शन सामान्य व तात्कालिक है। ज्ञान त्रैकालिक और दर्शन केवल वर्तमान में होता है।

चक्षुदर्शन उपयोग—आंखों से जो सामान्य अवबोध होता है, वह चक्षुदर्शन उपयोग है।

अचक्षुदर्शन उपयोग—आंखों के अतिरिक्त चार इन्द्रियों और मन से जो सामान्य अवबोध होता है, वह अचक्षुदर्शन है।

अवधिदर्शन उपयोग—इन्द्रियों और मन के बिना मूर्त्त द्रव्यों का सामान्य अवबोध होना अवधिदर्शन उपयोग है।

केवलदर्शन उपयोग—अनावृत्त आत्मा के द्वारा समस्त रूपवान और अरूपवान द्रव्यों का सामान्य अवबोध होना केवलदर्शन उपयोग है।

यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि ज्ञान पांच हैं तो दर्शन चार ही क्यों हैं? मन:पर्यवज्ञान है तो मन:पर्यव दर्शन क्यों नहीं? मन:पर्यव ज्ञान मे मन की विविध आकृतियों को जाना जाता है। जो आकार अवस्था को जानता है वह अनाकार को कैसे जानेगा? दर्शन का विषय अनाकार उपयोग है इसलिए मन:पर्यव ज्ञान की भांति मन:पर्यव दर्शन नहीं हो सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2 अमूर्त्त स्वरूप

चावार्क के मूर्त्तिक द्रव्य का परिहार करते हुए जैनदर्शन मे जीव को अमूर्त्त माना गया है। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में पुद्गल के गुण, रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं होते, इसलिए वह अमूर्त्तिक है पर संसार अवस्था में वह अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण रूपादिवान होकर मूर्त्तिक होता है। यह मूर्त्तत्व गुण चेतना का विकार है और विकार स्थायी नहीं होता, अत: वह अशुद्ध है। अत: जैनदर्शन में निश्चय से जीवों को अमूर्त्त तथा व्यवहार से जीव को मूर्त्त कहा गया है। द्रव्यसंग्रह में स्पष्ट है—

''वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।।'' (गाथा-7)

ऐसा ही चित्रण समयसार में कुन्दकुन्द ने किया है—

''अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठं संठाणं।।'' (गाथा-49)

अर्थात् जीव को रसरहित, रूपरहित, गंध रहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय अगोचर, चेतना गुण वाला और शब्द रहित जानो। आचार्य अमृतचन्द्र ने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में पुरुष नाम से आत्मा का अमूर्त्तिक लक्षण बतलाते हुए कहा है—

''अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जित: स्पर्शरसगन्धवर्ण:।
गुणपर्ययसमवेत: समाहित: समुत्पादव्ययध्रौव्यै:।।''

अर्थात् पुरुष (आत्मा) चेतन स्वरूप है। स्पर्श, रस, गंध और रूप से रहित है। गुण पर्यायों से सहित तथा उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है। इस प्रकार आत्मा अमूर्त्तिक है।

4.3 कर्त्ता स्वरूप

जैनदर्शन के अनुसार जीव अपने शुभाशुभ कर्मों व परिणामों का कर्त्ता है। भारतीय दर्शन में सांख्य पुरुष को कर्त्ता नहीं मानता है। वह समस्त कार्यों की कर्त्री प्रकृति को मानता है। सांख्य दर्शन के अनुसार—''अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्यो सर्वगतोऽक्रिय:''। अर्थात् आत्मा अकर्त्ता है। जैनदर्शन के अनुसार कर्त्ता कोई और भोक्ता कोई ऐसा नहीं हो सकता। यहां जीव के कर्त्तापन की स्थिति को द्रव्य संग्रह में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावा णं।।'' (गाथा-8)

अर्थात् आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है और निश्चय से अकर्त्ता है और शुद्धनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

4.4 देह परिमाणत्व स्वरूप

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा देहपरिमाण है। यह चींटी जैसे सूक्ष्म शरीर मिलने पर संकुचित और हाथी जैसे स्थूल शरीर मिलने पर विस्तृत हो जाता है। एक दृष्टान्त देकर जैनदर्शन में जीव के देहपरिमाणत्व को सिद्ध किया गया है। जिस प्रकार छोटे कमरे में दीपक का प्रकाश संकुचित हो जाता है और बड़े कमरे में फैल जाता है। आत्मा के देहप्रमाण से तात्पर्य है कि आत्मा को अपने संचित कर्म के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, उस पूरे शरीर में वह व्याप्त होकर रहता है। शरीर का कोई अंग ऐसा नहीं होता कि जहां जीव न हो। जीव में संकोच-विस्तार करने की शक्ति है। यही कारण है कि जीव प्रदेश, धर्म, अधर्म और लोकाकाश के बराबर होते हुए भी कर्मार्जित शरीर में व्याप्त होकर रहता है जैसे पद्मराग रत्न को छोटे बर्तन में रखे हुए दूध में डाला जाता है तो वह सम्पूर्ण दूध को प्रकाशित करता है और जब उसी रत्न को बड़े बर्तन में रखे हुए दूध में डाला जाता है तो उस बड़े बर्तन के दूध को प्रकाशित करता है। इस प्रकार आत्मा शरीर में रहता हुआ सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है। किंतु यहां यह कहना आवश्यक है कि जीव के प्रदेशों में संकोच-विस्तार होते रहने पर भी उसके लोक प्रमाण आत्मप्रदेशों की संख्या में कोई हानि या वृद्धि नहीं होती। द्रव्य संग्रह में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''अणुगुरूदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारो णिच्छयणयदो असंखदेसो वा।।'' (गाथा-10)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अर्थात् व्यवहारनय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जोव संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के परिमाण में रहता है और निश्चयनय से जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

अत: प्रश्न यह उठता है कि आत्माओं के संकोच विस्तार का कारण क्या है? जैनदर्शन में इसके कारण के रूप में कार्मण शरीर को माना गया है। कार्मण शरीर जब तक आत्मा के साथ रहता है तभी तक आत्मा में संकोच-विस्तार की शक्ति पायी जाती है। जिस समय आत्मा समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त हो जाता है, उस समय उसमें संकोच विस्तार की शक्ति नष्ट हो जाती है। अत: संसारी आत्मा संकोच-विस्तार शक्ति के कारण देह प्रमाण है।

4.5 भोक्ता स्वरूप

चूंकि आत्मा कर्त्ता है तो अपने किये हुए कर्मों का भोक्ता भी है। जैनदर्शन में व्यवहार नय की दृष्टि से जीव को अपने सुख-दु:खों का भोक्ता कहा गया है तथा निश्चय से अपने चैतन्यात्मक आनन्दस्वरूप का भोक्ता कहा गया है। यदि आत्मा सुख-दु:ख का भोक्ता न हो तो सुख-दु:ख की अनुभूति ही नहीं हो सकती। बौद्धदर्शन क्षणिकवादी है अत: वह न ही नित्यात्मा को स्वीकार करता है और न ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व को ही मानता है। यदि जीव को अपने कर्मों का भोक्ता न माना जाये तो कर्मव्यवस्था चरमरा जायेगी तथा पाप-पुण्य की व्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी। यहां पर भी ध्यान देने की बात है कि सांख्यदार्शनिकों की तरह जैनदार्शनिक मात्र उपचार से कर्मफलों का भोक्ता न मानकर वास्तविक रूप से भोक्ता मानते हैं। षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में उल्लखित है कि—**'उपचरितवृत्या भोक्तारं चात्मानं मन्यमानानां सांख्यानां निरास:'' ''तथा स्वकृतस्य कर्मणो यत्फलं सुखादिकं तस्य साक्षाद् भोक्ता च'** अर्थात् सांख्य में आत्मा का उपचार से भोक्ता होना खण्डित होता है और अपने किये कर्मों के फल में सुखादि का होना उसके भोक्तृत्व भाव को सिद्ध करता है। अत: आत्मा भोक्ता है। जैनदर्शन में आत्मा के भोक्तृत्व भाव को इस रूप में भी व्यक्त किया गया है—

''ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।।'' (द्र. स.-9)

अर्थात् आत्मा व्यवहार से सुख-दु:ख रूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है।

4.6 आत्मा का संसारी स्वरूप

जैनदर्शन आत्मा के संसारी स्वरूप को भी स्वीकार करता है। उसके अनुसार संसारी आत्मा ही मुक्तावस्था को प्राप्त करता है। अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण संसारी जीव अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को नष्ट कर शुद्ध होता है। यदि जीव पहले कर्मयुक्त न होता तो उसकी मुक्ति के उपाय की खोज भी व्यर्थ है। जैनदर्शन व्यवहार से ही आत्मा को संसारी कहता है। शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं। द्रव्यसंग्रह में कहा गया है—

''मग्गण गुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।।'' (गाथा-13)

अर्थात् संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणा स्थानों से तथा चौदह गुण स्थानों से चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्ध नय से सब संसारी जीव शुद्ध हैं।

4.7 जीव का सिद्ध (मुक्त) स्वरूप

जब तक यह जीव राग-द्वेषादिक विषय विकारों से ग्रसित रहता है, तब तक वह संसारी रहता है और जब सकल कर्मों से अपने को मुक्त कर लेता है तो वह सिद्ध कहलाता है। कर्मों का क्षय होने से सिद्धों में आठ गुण प्रकट होते हैं। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है, जिससे सिद्ध आत्मा सर्वज्ञ हो जाती है। दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने से अनंत केवल दर्शन प्रकट होता है। वेदनीय कर्म का क्षय होने से निराबाध गुण असंवेदन प्रकट होता है। मोहनीय कर्म नष्ट होने से आत्मरमण होता है। आयुष्य कर्म क्षीण होने से सर्वदा के लिए अजर अमर हो जाते हैं, नामकर्म का नाश होने से अमूर्त्तिक गुण प्रकट होते हैं। गोत्र कर्म क्षीण होने से सब उपलक्षणों से रहित हो जाते हैं। अन्तराय कर्म क्षीण होने से क्षायिक लब्धि प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा मुक्त होकर अशरीरी, अष्टकर्मों से रहित एवं अनंत सुख से युक्त परम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.8 आत्मा का ऊर्ध्वगामित्व स्वरूप

जैनदर्शन में जीव को ऊर्ध्वगति स्वभावी कहा गया है। जैसे दीपक की निर्वात (हवा रहित) शिखा स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही शुद्ध दशा में जीव भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले होते हैं। वायु से प्रकम्पित दीपक की लौ की तरह अशुद्ध दशा में आत्मा कर्मों से प्रेरित होकर चार गतियों में इधर-ऊधर भ्रमण करते हैं, किंतु शुद्ध दशा में अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा लोक के अग्रभाग में स्थिर हो जाते हैं। उसके आगे धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण गति नहीं कर पाते। जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का चित्रण करते हुए द्रव्य संग्रह में कहा गया है—

''णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुता।।'' (गाथा-14)

अर्थात् आत्मा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित, सम्यक्त्व आदि गुणों की धारक तथा अंतिम शरीर से 1/3 भाग कम सिद्ध रूप है। वह ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित, नित्य है तथा उत्पाद, व्यय से युक्त है।

4.9 परिणामीनित्यत्व स्वरूप

जैनदर्शन आत्मा को परिणामी नित्य स्वीकार करता है। भगवान् महावीर ने तत्त्व का प्रतिपादन परिणामी नित्यवाद के आधार पर किया। महावीर से पूछा गया — आत्मा नित्य है या अनित्य? उन्होंने कहा — अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता, इस अपेक्षा से नित्य और परिणमन का क्रम कभी अवरूद्ध नही होता, इस अपेक्षा से अनित्य है। समग्रता की भाषा में वह न नित्य है, न अनित्य है किंतु परिणामी नित्य अर्थात् नित्यानित्य है।

वेदान्त ने ब्रह्मात्मा को एकान्त नित्य माना है किंतु जीवात्मा के विषय में अलग-अलग मन्तव्य है। शंकराचार्य को छोड़कर लगभग सभी वेदान्ती दार्शनिकों ने ब्रह्म का विवर्त न मानकर जीवात्मा को परिणामी नित्य माना है। मीमांसक भी जैन की भांति आत्मा को परिणामी नित्य मानता है। सांख्य और योग आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। वे किसी भी प्रकार का परिणमन या विकार स्वीकार नहीं करते। वे संसार और मोक्ष को आत्मा के नहीं, बल्कि प्रकृति के मानते हैं।उनके मत से सुख, दु:ख, प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नही। अत: सांख्य-योग आत्मा को सर्वथा परिणामी मानते हैं। न्याय-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानते हैं। आत्मतत्त्व की दो स्थितियां जैनदर्शन में सर्वदा मान्य रही हैं वे हैं उसका विशुद्ध और पुद्गल संयुक्त स्वरूप जिन्हें क्रमश: सिद्ध और संसारस्थ भी कहा जाता है।

4.10 स्व-पर प्रकाशक स्वरूप

जैन दार्शनिक आत्मा को स्व-पर प्रकाशक मानते हैं। इस विषय में इनका कहना है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है इसलिए आत्मा भी स्व-पर प्रकाशक है। इस दर्शन में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करता है। आचार्य कुन्कुन्द प्रथम जैनाचार्य हैं जिन्होंने नियमसार में ज्ञान को सर्वप्रथम स्व-पर प्रकाशक मानकर इस चर्चा का जैनदर्शन में सूत्रपात किया और कालान्तर के आचार्यों ने एक स्वर से इनके मन्तव्य को स्वीकार किया।

4.11 प्रभु स्वरूप

पंचास्तिकाय ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द ने उल्लेख किया है कि आत्मा प्रभु एवं स्वयंभू है। वह किसी के वश में नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का स्वामी स्वयं है। दूसरे शब्दों में हर जीव अपने शुभ-अशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी है। जीव अच्छे कर्म करके अपना पूर्ण विकास करता हुआ अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर सकता है अथवा बुरे कर्मों को करके अधोगामी भी बन सकता है। अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में कहा है—''आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा से द्रव्य कर्म, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षप्राप्त करने में स्वयं समर्थ होने से प्रभु है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा ईश्वर की प्रेरणा से शुभ-अशुभ कर्म नहीं करता है और ईश्वर का उसके बंधन और मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है।वह अपना मालिक स्वयं है।

4.12 आत्म-बहुत्व स्वरूप

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा दर्शनों की भांति जैनदर्शन में भी अनेक आत्माओं की कल्पना की गयी है। उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र में उल्लिखित सूत्र 'जीवाश्च' (5/3) आत्मा की बहुलता को सिद्ध करता है। अकलंक ने जीव को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनेक स्वरूप मानते हुए लिखा है—''गति आदि चौदह मार्गणा, मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों के भेद से आत्मा अनेक पर्यायों को धारण करने के कारण एक नहीं अनेक है।'' इस प्रकार तत्त्वार्थवार्तिक में मुक्त जीव को भी अनेक माना गया है।जैन दार्शनिक अपरिमित एवं असीम आत्माओं को मानकर प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार एक शरीर में एक से अधिक आत्माएं रह सकती हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि आत्मा स्वयं कर्त्ता, भोक्ता एवं स्वामी है। वह अमूर्त्त है। वह एक नहीं अनेक है। वह स्वयंभू है। वह परिणामी नित्य है। चेतना उसका मुख्य स्वरूप है। वह ज्ञानरूप है। वह स्व-पर प्रकाशी है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम आगमों एवं अन्य ग्रंथों में कहे गये तथ्यों के आधार पर ही यह सहज ही स्वीकार कर लें कि जिस आत्मा में ये लक्षण मिलते हैं उसका अस्तित्व स्वत: सिद्ध है। कहा गया है—''श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात'' अर्थात् श्रुति की सहायता के लिए तर्क का अभ्युदय हुआ है अर्थात् श्रुति (मूल ग्रंथों) की बातों को भी तर्क की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार किया जाना चाहिए। हम किसी बात को इस आधार पर न मान लें कि यह एक महान् आदमी का कथन है। स्वर्णकार के लिए खरे सोने की कसौटी अग्नि ही है। अत: यह आवश्यक है कि उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर ही हम आत्मा को स्वीकार न कर लें अपितु तर्क की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करें। दर्शन शास्त्र की यही मान्यता भी है।

बोध प्रश्न

आत्मा स्व-पर प्रकाशक कैसे है?

5.0 जीवसिद्धि

विविध भारतीय दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिये गये हैं। जैनदर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। यहां भी जीव की सिद्धि के लिए अनेक प्रबल एवं अकाट्य प्रमाण दिये गये हैं। आगमों में जीव की सिद्धि के लिए स्वतंत्र रूप से तर्कों की प्रस्तुति दृष्टिगोचर नहीं होती है किंतु वहां आत्मा के स्वरूप पर जो प्रकाश डाला गया है उसी से तर्क भी निष्पन्न होते हैं। आचारांग सूत्र में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिसमें उद्देश्य तो आत्मा का स्वरूप बतलाना है किंतु उसी स्वरूप से आत्मा का अस्तित्व भी सिद्ध होता है। उदाहरण स्वरूप आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में कहा गया है—''जो भवान्तर में दिशा-विदिशा में घूमता रहा, वह मैं हूं''। यहां मैं से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। दिगम्बर आम्नाय के षटखंडागम में भी आत्मा का विवेचन तो हुआ है किंतु यहां भी स्वतंत्र तर्कों का अभाव-सा है। कुन्कुन्द एवं उमास्वाति आदि ने विभिन्न दृष्टियों से आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाले हैं किंतु उन्होंने भी जीव सिद्धि के लिए स्वतंत्र तर्क नहीं दिये हैं। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन से तर्कयुग का प्रारंभ होता है। पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनभद्रगणि, प्रभाचन्द्र, मल्लिषेण आदि जैनाचार्यों ने जीवसिद्धि को प्रधानता देकर विभिन्न तर्कों से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में, अकलंक ने तत्त्वार्थ वार्तिक में, आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यक भाष्य में, हरिभद्र ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में, आचार्य विद्यानन्द ने सत्यशासन परीक्षा में, आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में, मल्लिषेण ने स्याद्वाद मंजरी में आत्मा की सिद्धि के लिए अनेक तर्क दिये हैं। विभिन्न आचार्यों द्वारा आत्मा की सिद्धि में दिये गये कुछ प्रमुख तर्कों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

5.1 स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से

अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व स्वत: सिद्ध होता है। 'मैं हूं', 'मैं सुखी हूं', 'मैं दु:खी हूं'—यह अनुभव किसी शरीर को नहीं होता है। यह अनुभव जिसे होता है, वही आत्मा है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आत्मा के द्वारा आत्मा को जानना अनुभव सिद्ध है और यह आत्मा का स्वभाव है। इस प्रकार मैं विषयक प्रत्यक्ष अनुभव से स्वयंज्योति स्वरूप आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। आचार्य शंकर का भी मानना है कि—'सर्वोप्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति' अर्थात् सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हूं'। यह विश्वास किसी को नहीं होता कि 'मैं नहीं हूं'।

5.2 उपादान कारण से

इस तार्किक नियम के अनुसार जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है, वह उसी रूप में परिणत होता है। अचेतन के उपादान चेतन में नहीं बदल सकते। आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार जैसे घट आदि कार्य हैं तो उनका कोई न कोई उपादान कारण अवश्य होता है और उसका उपादान कारण मिट्टी है, उसी प्रकार ज्ञान, सुख आदि भी कार्य हैं, उनका भी कोई उपादान कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होना चाहिए। इनका उपादान कोई अचेतन तत्त्व नहीं हो सकता। अत: इनका उपादान कारण जो है वही आत्मा है। गुणरत्नसूरि द्वारा रचित षड्दर्शन समुच्चय की गुणरत्न टीका में भी यह तर्क उपलब्ध होता है।

5.3 सत्-प्रतिपक्ष के रूप में

जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नहीं है, उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन नहीं मिल सकता। कर्त्तव्य का महत्व अकर्त्तव्य से, भेद का महत्त्व अभेद से, उचित का महत्त्व अनुचित से है। प्रत्येक का अपना प्रतिपक्षी होता है। तर्कशास्त्र का भी यह नियम है कि हर का अपना प्रतिपक्ष है। यदि चेतन नामक सत्ता नही होती तो 'न चेतन अचेतन' से इस अचेतन सत्ता का नामकरण कैसे होता? आचार्य गुणरत्नसूरि का मानना है कि जिस प्रकार अघट से घट का अस्तित्व सिद्ध होता है और अजीव से जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। उसी प्रकार अजीव के प्रतिपक्षी के रूप में जीव के अस्तित्व के बारे में कोई शंका संभव नहीं है।

5.4 शरीर के अधिष्ठाता के रूप में

आचार्य मल्लिषेण सूरि ने शरीर के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहा है कि जितनी विशेष क्रियाएं होती हैं, वे प्रयत्न पूर्वक होती हैं। उदाहरणार्थ रथ के चलने की क्रिया सारथी के विशेष प्रयत्न से जैसे होती है, वैसे ही शरीर के संचालन की क्रिया जिसके प्रयत्न से होती है, वही आत्मा है। स्याद्वादमंजरी में इसी तर्क की पुष्टि में उन्होंने कहा है—"जिस प्रकार वायु की सहायता से चमड़े की धौंकनी को फूंकने वाला कोई व्यक्ति होता है उसी प्रकार श्वासोच्छ्वास रूप वायु से शरीर रूपी धौंकनी को फूंकने वाला भी कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए और वह चेतन सत्ता है आत्मा। आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार जीवित शरीर किसी भी प्रेरणा से संचालित होता है और जिसकी प्रेरणा से यह संचालित होता है, वह आत्मा ही है।

5.5 संकलनात्मक ज्ञान से

प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने निश्चित विषय है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नही जान सकती।सब इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान किसी विशेष इन्द्रिय को संभव नही है। यह संकलनात्मक ज्ञान जिसे होता है, वह आत्मा है। जैसे ककड़ी को चबाते समय उसके स्पर्श, रूप, रस, गंध एवं शब्द का ज्ञान किसी विशेष इन्द्रिय को न होकर आत्मा को ही होता है अत: आचार्य अकलंक एवं मल्लिषेण सूरि ने इन्द्रियो के विषयो के संकलनात्मक ज्ञान द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है।

5.6 संशय से

आचार्य अकलंक के अनुसार संशय द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध है। उनका मानना है कि संशय कभी अनस्तित्व का नहीं होता है वह सदैव अस्तित्व का होता है। बंध्यापुत्र, शशश्रृंग आदि असत् पदार्थों में कभी संशय नहीं होता है। वे तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जिसका अस्तित्व नहीं है उसके विषय में संशय होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। आचार्य जिनभद्रगणी के अनुसार संशयकर्त्ता सदैव चेतन ही होता है अत: संशय करने वाले के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

5.7 श्वासोच्छ्वास कार्य से

पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है कि श्वासोच्छ्वास रूप कार्य से क्रियावान आत्मा का अस्तित्व उसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। जैसे यंत्रमूर्त्ति के हिलने-डुलने की क्रिया से उसके बनाने वाले का अस्तित्व सिद्ध होता है। उनके अनुसार श्वासोच्छ्वास रूपी क्रियाएं होती हैं तो इनका कोई न कोई कारण होना चाहिए। इनका कारण न रूप है, न संज्ञा है, न संस्कार है, न वेदना है, न विज्ञान है। अत: श्वासोच्छ्वास रूप कार्य का जो कर्त्ता है, वह आत्मा ही है।

5.8 सकलप्रत्यक्ष से

इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष जैनदर्शन में मूलत: परोक्ष माना गया है। आचार्य अकलंक के अनुसार इन्द्रिय निरपेक्ष आत्मजन्य केवलज्ञान रूप सकल प्रत्यक्ष से ही शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है।

5.9 गुणों के आधार पर

यहां गुणों के आधार पर गुणी के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। जिनभद्रगणी के अनुसार जैसे घट के गुण रूपादि के प्रत्यक्ष अनुभव होने से घट का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मा के गुण ज्ञानादि का प्रत्यक्ष अनुभव होने से आत्मा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का भी अस्तित्व मानना चाहिए। अमृतचन्द्र सूरि, मल्लिषेण सूरि, गुणरत्न सूरि आदि आचार्यों ने ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण मानकर गुणी के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध की है।

5.10 गौण कल्पना से

आचार्य विद्यानन्द ने आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए यह तर्क दिया है कि चित्र देखकर जैसे एक व्यक्ति कहता है कि यह सजीव चित्र है जबकि चित्र अजीव है लेकिन उसमें जीव की गौण कल्पना की गयी है। यदि जीव का अस्तित्व न होता तो यह चित्र सजीव है, ऐसा कथन नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा कथन किया जाता है तो इससे यह सिद्ध होता है कि सजीव अर्थात् आत्मा का अस्तित्व है।

5.11 स्मृति से

इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा ज्ञात विषयों की स्मृति रहती है। जैसे आंख से कोई वस्तु देखी, कान से सुनी, संयोगवश आंख फूट गयी और कान का पर्दा फट गया फिर भी पूर्व में देखे और सुने गये की स्मृति रहेगी। इसका मूल कारण क्या है? संकलनात्मक ज्ञान और स्मृति- ये मन के कार्य है। आत्मा के अभाव में इन्द्रिय और मन निष्क्रिय हो जाते है। अत: ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है।

5.12 ग्राहक रूप से

ज्ञेय, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनों भिन्न हैं। इन्द्रियां ग्रहण करने के साधन हैं और पदार्थ ग्राह्य है तो इनका ग्राहक भी कोई होना चाहिए। जिनभद्रगणी के अनुसार जैसे संडासी और लोहे में आदान-आदेय सम्बन्ध है और उसको ग्रहण करने वाला लुहार होता है, वैसे ही इन्द्रिय और विषय में आदान-आदेय सम्बन्ध होने से उसके ग्राहक के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

5.13 विशेष गुण से

किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। स्वतंत्र पदार्थ वही है जिसमें ऐसा त्रैकालिक गुण हो जो अन्य किसी भी पदार्थ में न हो। आत्मा में चैतन्य नामक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ में व्याप्त नहीं है। अत: आत्मा का दूसरे सभी पदार्थों से स्वतंत्र अस्तित्व है।

5.14 परलोकी के रूप में

परलोक गमनकर्त्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए आचार्य विद्यानन्द ने सत्यशासन परीक्षा में कहा है कि मृत्यु के बाद शरीर यहीं जला दिया जाता है। पुण्य-पाप के प्रभाव से परलोक जाने वाला ऐसा तत्त्व अवश्य है जो परलोक जाता है। अन्यथा संसार और मोक्ष की व्यवस्था ही नष्ट हो जायेगी। अत: यह सिद्ध है कि जो तत्त्व परलोक जाता है, वही मूलत: आत्मा है।

5.15 कर्त्ता के रूप में

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में रूपादि गुणों के कर्त्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि रूप आदि गुणों की उपलब्धि कर्त्तापूर्वक ही संभव है क्योंकि 'उपलब्धि होना' क्रिया है। जो क्रिया होती है, उसका कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होता है। जैसे काटने की क्रिया का कोई कर्त्ता अवश्य होता है, उसी प्रकार देखने, पढ़ने आदि क्रिया का भी कर्त्ता अवश्य है। इसी प्रकार जानने और सोचने की क्रिया का कर्त्ता जो है, वही आत्मा है। पाश्चात्य दार्शनिक रेने डेकार्ट ने भी इसी प्रकार सोचने की क्रिया से सोचने वाले के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा था कि, 'मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं।'

जीवन के लक्षण, स्वरूप एवं सिद्धि के बाद अब जीव के भेद-प्रभेद पर प्रकाश डालने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

6.0 जीव के प्रकार

जैन दार्शनिकों ने जीव के भेद अनेक दृष्टियों से किये हैं। जीव के वर्गीकरण की जितनी विभिन्नता यहां मिलती है, उतनी अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती हैं। अत: विविध दृष्टियों से जीव के विविध प्रकार का विवेचन नीचे किया जा रहा है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.1 जीव के एक प्रकार

जीव एक तत्त्व है। वह अपने गुण और पर्यायों से संपन्न है। इसका अस्तित्व त्रैकालिक है। जीव तत्त्व की शक्ति चेतना शक्ति है। चेतना गुण की अपेक्षा से जीव का एक भेद है। चेतना गुण जीव का असाधारण धर्म है। जीव मात्र का यह लक्षण है। संग्रहनय की दृष्टि से जिसमें चेतना है, वही जीव है।

6.2 जीव के दो प्रकार

आचार्य उमास्वाती ने तत्त्वार्थ सूत्र में आत्मा के दो भेद करते हुए लिखा है—**''संसारिणो मुक्ताश्च''** (2/10) अर्थात् संसारी और मुक्त दो जीव हैं। संसारी आत्मा वह है जो बार-बार जन्म और मरण करता है। इसका पूर्वजन्म और पुनर्जन्म होता रहता है। इस वर्ग के जीव अनादि काल से संसारी हैं और तब तक संसारी रहेंगे जब तक समस्त कर्मों को क्षय करके मुक्त नहीं बन जायंगे। नेमिचन्द्राचार्य के अनुसार—''जिस प्रकार कावड़ के द्वारा बोझा ढोया जाता है, उसी प्रकार शरीर रूपी कावड़ के द्वारा संसारी आत्मा अनेक कष्टों को सहती हुई कर्म रूपी भार को विभिन्न गतियों में ढोती हुई भ्रमण करती रहती है।'' संसारी आत्माएं सशरीरी होती है और ये नित्य नवीन कर्मों में बंधकर फल भोगती रहती हैं।

मुक्त आत्मा, आत्मा की शुद्धतम अवस्था है। अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपके हुए कर्म पुद्गल जब आत्मा से सदा सर्वदा के लिए अलग हो जाते हैं तो वही आत्मा मुक्त कहलाती है। वहां केवल आत्मा की ज्ञान-दर्शनमयी सत्ता का अस्तित्व है। इसके अनेक नाम मिलते हैं, यथा—सिद्ध, ईश्वर, परमात्मा, मुक्तात्मा, परमेश्वर।

6.2.1 संसारी जीव के दो-दो प्रकार

विभिन्न दृष्टियों से संसारी जीवों के निम्नलिखित दो-दो प्रकार हैं—

1. व्यवहार राशि	2. अव्यवहार राशि
1. भव्य	2. अभव्य
1. त्रस	2. स्थावर
1. सूक्ष्म	2. बादर
1. पर्याप्त	2. अपर्याप्त

1. व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि

व्यवहार से तात्पर्य है—भेद-विभाग अर्थात् जो जीव अनेक भेदों में विभक्त है, वे व्यवहार राशि के जीव हैं। व्यवहार शब्द का दूसरा अर्थ है उपयोग अर्थात् जो जीव हमारे उपयोग में आते हैं वे व्यवहार राशि के जीव हैं। एकेन्द्रिय से लेकर अनिन्द्रिय (केवल ज्ञानी) तक सभी जीव इसके अंतर्गत आते हैं। व्यवहार राशि में संसारी और मुक्त सभी जीव हैं। व्यवहार राशि के जीवों की संख्या अनन्त है पर वे अव्यवहार राशि के जीवों के अनन्तवें भाग में भी नहीं आते हैं।

अव्यवहार राशि जीवों का अक्षयकोष है। इन जीवों का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है। इस जीव वर्ग में केवल वनस्पति के जीव हैं, वे भी साधारण वनस्पति के। साधारण वनस्पति अर्थात् एक शरीर में अनन्त जीव। इसे निगोद भी कहते हैं। अव्यवहार राशि के सब जीव समान हैं। इनकी अवगाहना, स्थिति, आहार, उच्छ्वास, निःश्वास आदि में कोई अन्तर नहीं है। इस वर्ग के कुछ जीव काललब्धि के योग यानि समय के परिपाक के साथ से व्यवहार राशि में संक्रान्त होते हैं। अव्यवहार राशि से जीव व्यवहार राशि में आते हैं किन्तु व्यवहार राशि से जीव अव्यवहार राशि में नहीं जाते। व्यवहार राशि से जितने जीव मुक्त होते हैं, उसकी क्षतिपूर्त्ति अव्यवहार राशि से होती रहती है, इसी आधार पर यह कहा जाता है कि संसार कभी जीवशून्य नहीं होगा।

2. भव्य-अभव्य जीव

भव्यता से तात्पर्य मोक्ष गमन की योग्यता और अभव्यता से तात्पर्य मोक्ष गमन की अयोग्यता से है। चेतना का गुण सभी प्राणियों में है, जो इसका सम्पूर्ण विकास कर लेने की क्षमता रखता है, वह भव्य है और जिनमें ऐसी क्षमता नहीं होती है, वे अभव्य हैं। किसी भी प्रयत्न या पुरुषार्थ से अभव्य को भव्य नहीं बनाया जा सकता।

एक प्रश्न है कि अभव्य जीव भव्य नहीं बन सकते और भव्य जीव मोक्ष जाते रहते हैं। इस स्थिति में एक ऐसा समय भी आ सकता है जबकि सारे भव्य जीव मुक्त हो जाएं। अगर ऐसा हुआ तो मोक्ष का द्वार बन्द हो जायेगा। जैनदर्शन के अनुसार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जितने भव्य हैं सभी मुक्त हो जायेंगे, यह संभव नहीं है क्योंकि जिन भव्य जीवों को वैसी सामग्री उपलब्ध नहीं होगी, वे अपनी योग्यता का उपयोग नहीं कर पायेंगे। पत्थर में प्रतिमा बनने की योग्यता है पर क्या सब पत्थर प्रतिमा बनते हैं? ऐसा ही भव्य जीवों की मुक्ति के संदर्भ में समझना चाहिए।

3. त्रस-स्थावर

त्रस अर्थात् जो गमनागमन करने में सक्षम है, हलन चलन कर सकते है, वे त्रस जीव हैं। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—"जो जीव सुख पाने के लिए और दु:ख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन कर सकते हैं, वे त्रस हैं।" जो स्थिर हैं अर्थात् जिस आत्मा में गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, उसे स्थावर आत्मा कहते हैं। अर्थात् जिन जीवो में सलक्ष्य गमनागमन की क्षमता नही होती, वे स्थावर कहलाते हैं। दो, तीन, चार, पांच इन्द्रिय वाले जीव त्रस हैं और एक इन्द्रिय वाले जीव—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर हैं। त्रस और स्थावर वर्ग में संसार के सभी प्राणियों का समावेश हो जाता है।

4. सूक्ष्म-बादर

बादर का अर्थ स्थूल है। इसमें एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव आ जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के होते हैं। पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि स्थावर जीवों के जो शरीर दृश्य हैं, वे बादर हैं और जो आंखों के विषय नहीं हैं, वे सूक्ष्म हैं। ऐसे सूक्ष्म जीव समूचे लोक में व्याप्त हैं। सूक्ष्म जीव समग्रलोक में रहते हैं और बादर जीव लोक के एक भाग में रहते हैं।

5. पर्याप्त-अपर्याप्त

समान्यत: पर्याप्त का अर्थ पूर्ण और अपर्याप्त का अर्थ अपूर्ण होता है किंतु यहां इन दोनों शब्दों का विशेष अर्थ है। इन शब्दों का सम्बन्ध पर्याप्तियों से है। **'भवारम्भे पौद्गलिकसामर्थ्यनिर्माणं पर्याप्ति:'** अर्थात् जन्म के प्रारंभ में जीवन यापन के लिए आवश्यक पौद्गलिक शक्ति के निर्माण का नाम पर्याप्ति है। पर्याप्ति छ: हैं—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मन पर्याप्ति। प्रत्येक जीव प्रारंभ में अपर्याप्त होता है। जिस जन्म में जितनी पर्याप्तियां प्राप्त करनी हैं, उन्हें पूरा कर लेने के बाद जीव पर्याप्त बनता है। अपर्याप्त अवस्था का कालमान बहुत कम होता है। पर्याप्त हो जाने के बाद जीवन भर वही स्थिति रहती है। अपर्याप्त अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होने वाले जीवों को छोड़कर पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म जीवों से लेकर मनुष्य और देवों तक सभी जीव पहले अपर्याप्त और कालान्तर में पर्याप्त होते हैं। केवल सम्मूर्च्छिम मनुष्य की योनि में उत्पन्न होने वाले जीव अपर्याप्त ही होते हैं। पर्याप्तियों के निर्माण में बहुत कम समय लगता है। लगभग एक मुहूर्त्त के भीतर सब पर्याप्तियों का निर्माण हो जाता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों के चार पर्याप्तियां होती हैं। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों के पांच पर्याप्तियां होती हैं। देवों के मन और भाषा में कोई भेद नहीं रहता, इस दृष्टि से इनमें पांच पर्याप्तियां ही मानी गयी है। पांच इन्द्रिय वाले तिर्यंच, मनुष्य और नारक जीवों के छ: पर्याप्तियां होती हैं

6.3 जीव के तीन प्रकार

जीव के तीन प्रकारों के तीन वर्ग देखे जा सकते हैं— 1. स्त्री-पुरुष-नपुंसक 2. संयमी-असयंमी-संयमासंयमी 3. संज्ञी-असंज्ञी-नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी

प्रथम वर्ग के प्रकार हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जीवत्व की दृष्टि से ये सभी जीव हैं। इनके प्रकार लिंगभेद के आधार पर हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सब जीव नपुंसक होते हैं। पंचेन्द्रिय में नरक के जीव, सम्मूर्च्छिम मनुष्य एवं सम्मूर्च्छिम तिर्यंच नपुंसक होते हैं। गर्भज मनुष्य एवं गर्भज तिर्यंच स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक तीनों प्रकार के होते हैं। देवों के स्त्री और पुरुष—ये दो ही प्रकार हैं। वे नपुंसक नहीं होते।

दूसरे वर्ग के प्रकार हैं—संयमी, असयंमी और संयमासंयमी। ये भेद साधना के आधार पर हैं। जो प्राणी महाव्रतों की साधना करते हैं, वे संयमी कहलाते हैं। पूर्ण संयम की साधना करने वाले केवल मनुष्य ही होते हैं। जो प्राणी व्रतों की साधना नहीं करते हैं, वे असंयमी कहलाते हैं। संयमासंयमी दोनों के बीच की अवस्था है। इसमें न एकान्तत: संयम होता है और न ही एकान्तत: असंयम होता है। इन प्राणियों में मनुष्य और तिर्यंच दोनों हो सकते हैं।

तीसरे वर्ग के प्रकार हैं—संज्ञी, असंज्ञी, नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी। संज्ञी का अर्थ है-समनस्क। समनस्क जीवों को पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मानसिक संवेदन की क्षमता भी प्राप्त होती है। इसमें केवल पंचेन्द्रिय जीव आते हैं। जो जीव संज्ञा (मानसिक संवेदन) से शून्य होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तक के जीव इस विभाग में आ जाते हैं। जो जीव इन्द्रिय और मन के संवेदन से ऊपर उठ जाते हैं, जिन्हें संवेदन की कोई अपेक्षा नहीं रहती, वे नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं। ये केवली होते हैं।

6.4 जीव के चार प्रकार

गति के आधार पर जीव के चार भेद किये गये हैं। गति से तात्पर्य है—एक जन्म स्थिति से दूसरी जन्म स्थिति को प्राप्त करने के लिए होने वाली जीव की यात्रा। उस यात्रा के ये चार पड़ाव या ठहराव हैं—नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव। इस दृष्टि से इन्हें चार गति के नाम से भी जाना जाता है।

6.4.1 नारक जीव

नरक गति में रहने वाले जीव को नारक कहते हैं। नारक जीवों के आवास स्थल रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, बालुका प्रभा, पंक प्रभा, धूम प्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा—ये सात भूमियां एक के बाद एक नीचे-नीचे हैं। रत्नप्रभा के उपर मनुष्य लोक है। नारकी जीवों को अत्यधिक दु:खों को सहना पड़ता है। इन नरक भूमियों में उन जीवों को जाना पड़ता है,जो अत्यन्त क्रूर कर्म और बुरे विचारों वाले होते हैं।

6.4.2 तिर्यंच जीव

इस गति में रहने वाले जीव संख्या में सबसे अधिक है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव निश्चित रूप से तिर्यंच ही होते हैं। इनमें पृथ्वी, अग्नि, पानी, वनस्पति, वायु, कृमि, चींटी, मक्खी, मच्छर आदि अनेक जीव हैं। कुछ पंचेन्द्रिय जीव जैसे पशु-पक्षी भी तिर्यंच होते हैं। इनमें जलचर मछली कच्छप आदि स्थलचर गाय, भैंस, बकरी, भेड़ आदि और खेचर, पक्षी आदि तिर्यंच हैं। तिर्यंच गति को अप्रशस्त गति माना गया है क्योंकि उनका विवेक जागृत नहीं होता है।

6.4.3 मनुष्य जीव

मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—कर्म भूमिज, अकर्म भूमिज और समूर्च्छिम। कर्मभूमिज मनुष्य कर्म क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। वे कृषि, मसि, असि आदि साधनों से अपनी जीविका चलाते हैं और अपने पुरुषार्थ का उपयोग करते हैं। अकर्म भूमिज मनुष्य 'यौगलिक' कहलाते हैं। उनके जीवन यापन के साधन कल्पवृक्ष होते हैं। उन्हें कल्पवृक्ष से जो प्राप्त होता है, वे उसी से संतुष्ट हो जाते हैं। समूर्च्छिम मनुष्य नाम से तो मनुष्य ही है, पर उनमें मनुष्यता जैसा कुछ भी नहीं है। मानव शरीर से विसर्जित मल-मूत्र आदि चौदह स्थानकों में उन जीवों की उत्पत्ति होती है। वे पांच इन्द्रियों से युक्त होते हैं, पर मानसिक संवेदन से रहित होते हैं। मनुष्य गति प्राप्त करने पर भी वे जीव किसी प्रकार का विकास नहीं कर सकते।

6.4.4 देव जीव

जैनागमों में देवों के चार प्रकार बतलाये गये हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनपति देवों के आवास नीचे लोक में है। पिशाच, भूत, यक्ष आदि व्यन्तर देव और सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देव तिरछे लोक में रहते हैं। वैमानिक देव ऊंचे लोक में रहते है। देवगति का आयुष्य पूरा करने के बाद कोई भी देव तत्काल पुन: देव नहीं बन सकता। इसी प्रकार नारक जीव भी मृत्यु प्राप्त कर तत्काल नरक गति में उत्पन्न नहीं होता। इन दोनों गतियों के जीवों में पारस्परिक संक्रमण भी नहीं होता अर्थात् देव नरक गति में और नारक स्वर्ग में उत्पन्न नही होते। मनुष्य और तिर्यंच मृत्यु के बाद किसी भी गति में उत्पन्न हो सकते हैं। मोक्ष की प्राप्ति केवल मनुष्य गति से ही हो सकती है। गति के आधार पर जीव के भेद को इस प्रकार समझा जा सकता है—

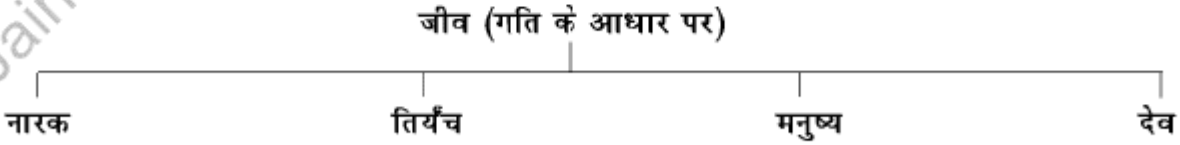

6.5 जीव के पांच प्रकार

इन्द्रियों के आधार पर जीव के पांच प्रकार किये गये हैं। नीचे की तालिका मे इन्द्रियों से सम्बन्धित जीवों का विवेचन स्पष्ट है—

1. एकेन्द्रिय जीव—स्पर्शेन्द्रिय मात्र—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति।
2. द्वीन्द्रिय जीव—स्पर्शन और रसन—कृमि, शंख आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. त्रीन्द्रिय जीव — स्पर्शन, रसन और घ्राण — चींटी, जूं, लीख, खटमल आदि।

4. चतुरिन्द्रिय जीव — स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु — मक्खी, मच्छर, पतंग, भ्रमर आदि।

5. पंचेन्द्रिय जीव — स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कान — पशु, पक्षी, नारक, देव, मनुष्य आदि।

उपर्युक्त एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणी संसारी जीव हैं। जीव के इस भेद से संसारी प्राणियों में विकास का जो तारतम्य है, वह स्पष्ट है—

6.6 जीव के छः प्रकार

जीव के छह प्रकार इस तरह हैं—

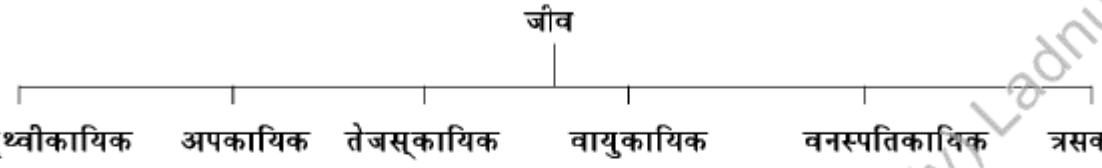

जैनागमों में उपर्युक्त छः प्रकारों को षड्जीवनिकाय के रूप में जाना जाता है। काय का अर्थ शरीर है। पृथ्वी जिन जीवों का शरीर है, वे जीव पृथ्वीकायिक हैं, जैसे — मिट्टी, मुरड़, कोयला, सोना, चांदी आदि। मिट्टी के एक छोटे से पिण्ड में असंख्य जीव होते हैं।

पानी जिन जीवों का शरीर है, वे अप्कायिक जीव हैं, जैसे पानी, ओले, कुहरा आदि। पानी की एक बूंद में पृथक-पृथक असंख्य जीव होते हैं। जिन जीवों का शरीर अग्नि है, वे जीव तेजस्कायिक कहलाते हैं जैसे अंगारे, ज्वाला, उल्का आदि। आग की एक छोटी-सी चिंगारी में अग्नि के असंख्य जीव पाये जाते हैं। जिनका शरीर वायु है, वे जीव वायुकायिक कहलाते हैं। संसार की सभी वायु इसके अंतर्गत है। वायुकाय में भी पृथक-पृथक असंख्य जीव होते है। जिन जीवों का शरीर वनस्पति है, वे जीव वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। इस काय में रहने वाले जीवों के दो प्रकार हैं — प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति के जीव एक-एक शरीर में एक-एक ही होते हैं। साधारण वनस्पति में एक-एक शरीर अनन्त जीवों का पिण्ड होता है। सब प्रकार की काई, कन्द, मूल आदि साधारण वनस्पति के जीव हैं। सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति के उद्देश्य से गति करने वाले जीव त्रसकायिक कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों का समावेश इस वर्ग में होता है। जैनदर्शन में 'षड्जीवनिकाय' की यह जो अवधारणा है, यह अपने आपमें विलक्षण है। अहिंसा की प्रतिष्ठापना की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है।

6.7 जीव के चौदह प्रकार

किसी अपेक्षा से जीव के चौदह भेद भी किये गये हैं। इन चौदह भेदों में एकेन्द्रिय जीव के चार भेद और पंचेन्द्रिय जीव के चार भेद किये गये हैं और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में प्रत्येक के दो-दो भेद हुए हैं, इस प्रकार जीव के चौदह भेदों को निम्नांकित चार्ट से समझा जा सकता है।

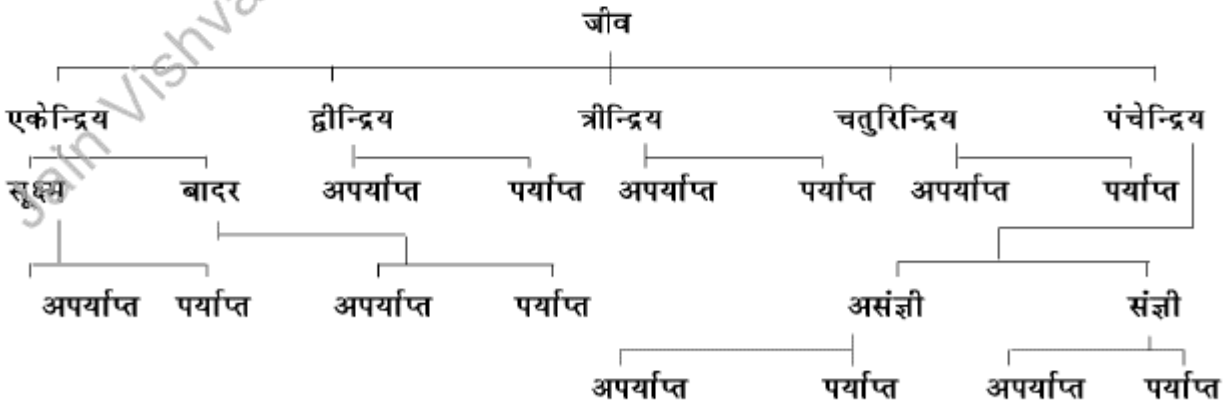

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

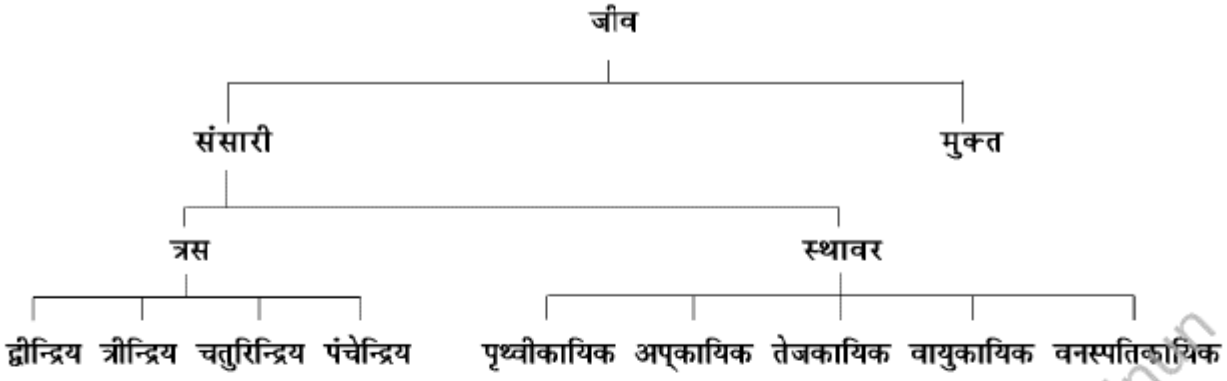

सारांश

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में यह प्रयास हुआ है कि जीव के संदर्भ में भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों का चिंतन एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत कर जैनदर्शन के जीव के स्वरूप एवं लक्षण को स्पष्ट किया जाए। जीव के अस्तित्व की सिद्धि दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण विषय होता है। विभिन्न जैनाचार्यों ने जिन तर्कों के माध्यम से जीव के अस्तित्व की सिद्धि की है। उन्हें भी क्रमबद्ध करके यहां प्रस्तुत किया गया है। जीव के प्रकार के संदर्भ में जैनदर्शन में अनेक प्रकार के चिंतन देखे जाते हैं। उन अनेक प्रकार के चिंतनों को भी यहां अति सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार जीवास्तिकाय के अंतर्गत जीव का सम्यक् विवेचन यहां किया गया है।

अभ्यास के प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन के अनुसार जीव के स्वरूप एवं लक्षण पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जीव सिद्धि के तर्कों को स्पष्ट कीजिए।
2. जीव के प्रकारों को संक्षेप में समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जीव का मुख्य लक्ष्ण क्या है?
2. गति की अपेक्षा से जीव के कितने भेद हैं?
3. चेतना जीव का आगंतुक लक्षण है, यह किस दर्शन की मान्यता है?
4. एकात्मवाद की मान्यता किस दर्शन की है?
5. त्रस का क्या अर्थ है?
6. आत्मा जैनदर्शन के अनुसार अकर्त्ता है या कर्त्ता?
7. काण्ट आत्मा को ज्ञेय मानता है या अज्ञेय?
8. डेकार्ट आत्मा को ज्ञेय मानता है या ज्ञाता?
9. ह्यूम आत्मा को नित्य मानता है या अनित्य?
10. जैनदर्शन में उपयोग का क्या अर्थ है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 4

पुद्गल का स्वरूप, भेद, अवस्थाएं, जीव एवं पुद्गल का सम्बन्ध, परमाणु स्वरूप

संरचना

उद्देश्य

प्रस्तावना

1.0 पुद्गल का महत्व

1.1 विभिन्न दर्शनों में पुद्गल

2.0 जैन दर्शन में पुद्गल का स्वरूप

2.1 पुद्गल और गुण

2.2 पुद्गल नित्य है

2.3 पुद्गल सत् द्रव्य है

2.4 पुद्गल अचेतन है

2.5 पुद्गल परिणामी है

2.6 परिणमन के तीन कारण

2.7 पुद्गल कब से कब तक

2.8 पुद्गल के विविध रूप

2.9 पुद्गल का अप्रदेशी एवं सप्रदेशी रूप

बोध प्रश्न

3.0 पुद्गल के भेद

3.1 एक भेद

3.2 दो भेद

3.3 पुद्गल के चार भेद

3.4 पुद्गल के छः भेद

3.5 पुद्गल के आठ भेद

बोध प्रश्न

4.0 पुद्गल की अवस्थाएं

4.1 शब्द

4.1.1 शब्द के प्रकार

4.2 बन्ध

4.2.1 बन्ध के प्रकार

4.3 भेद

4.4-5 सौक्ष्म्य और स्थौल्य

4.6 संस्थान

4.7 तम (अंधकार)

4.8 छाया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.9–10 आतप और उद्योत

5.0 परमाणु

5.1 परमाणु की मौलिकता

5.2 जैन परमाणु का स्वरूप

5.3 परमाणु की अतीन्द्रियता

5.4 जैन परमाणु और विज्ञान के परमाणु

5.5 परमाणु मिलन के नियम

बोध प्रश्न

6.0 जीव और पुद्गल का सम्बन्ध

सारांश

अभ्यास के प्रश्न

उद्देश्य– प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम–

1. संसार में जड़तत्त्वों के महत्व को समझ सकेंगे।
2. जैन दर्शन के जड़तत्त्व पुद्गल का सांगोपांग ज्ञान कर सकेंगे।
3. विभिन्न दर्शनों के अनुसार पुद्गल के स्वरूप को समझ सकेंगे।
4. जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल के भेद का ज्ञान कर सकेंगे।
5. पुद्गल के स्वरूप को भलीभांति समझ सकेंगे।
6. पुद्गल एवं जीव के सम्बन्ध का ज्ञान कर सकेंगे।

प्रस्तावना

इस संसार में जितना सत्य 'मैं हूं' है उतना ही सत्य 'मेरा शरीर' भी है। 'मैं हूं' से जहां 'जीव' तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है वही 'मेरे शरीर' से जड़ तत्त्व का भी अस्तित्व सिद्ध होता है। जब हम संसार पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि संसार में बहुत सारी वस्तुएं हैं जिनकी हमें प्रतिदिन आवश्यकता पड़ती है। प्रात:काल उठने से लेकर रात्रि में सोने तक न जाने कितनी वस्तुओं से प्रतिदिन हमारा वास्ता पड़ता है। पलक खुलते ही दांत के मंजन और ब्रश की जरूरत पड़ती है, उसके बाद नाश्ते में ब्रेड और गरम दूध की जरूरत पड़ती है, अध्ययन के लिए पुस्तकों की जरूरत पड़ती है, समय देखने के लिए घड़ी की आवश्यकता होती है, कॉलेज या बाजार जाने के लिए साईकिल या मोटर साईकिल की अपेक्षा होती है। गाने सुनने एवं समाचार जानने के लिए रेडियो, टेलीवीजन, एवं समाचार-पत्र की जरूरत पड़ती है। ठंडे पानी के लिए फ्रिज की एवं ठंडी हवा खाने के लिए कूलर या ए.सी. की जरूरत पड़ती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये दिन-प्रतिदिन की आवश्यकता की वस्तुएं क्या हैं और कहां से आती हैं? ये सारी वस्तुएं चेतन नही हैं। ये सबके सब जड़ हैं, अचेतन हैं। जैन शब्दावली में ये सबके सब पौद्गलिक हैं। ये पुद्गल से बने हैं। हमारे चारों तरफ पुद्गल है। आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दायें-बाएं सब तरफ पुद्गल है। हमारा शरीर, मन, इन्द्रियां-ये सब पुद्गल की ही देन है। हम सुबह से शाम तक पुद्गलों में रहते हैं। पुद्गल के बिना हमारा जीवन चल भी नही सकता। पुद्गल संसार की आवश्यकता है। संसार में आना भी पुद्गलों के साथ ही होता है। व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही शुभ और अशुभ कर्मों के पुद्गल लेकर आता है और जब इस जीवन से अलग होता है अर्थात् मृत्यु की गोद में सोता है तो भी शुभ और अशुभ कर्मों को लेकर जाता है। जन्म और मृत्यु के मध्य का सारा खेल पुद्गलों का ही है। इस प्रकार जन्म, जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म का यह चक्र पुद्गलों की ही धुरी पर घूमता है।

1.1 विभिन्न दर्शनों में पुद्गल

प्राय: सभी दर्शनो मे जड़ तत्त्व को स्वीकृति मिली है। चार्वाक जड़तत्त्व के रूप मे चार भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) को, सांख्य-योग प्रकृति को, न्याय-वैशेषिक परमाणु को जड़तत्त्व के रूप मे स्वीकार करते हैं। वहां पुद्गल शब्द का उल्लेख नही है। बौद्धदर्शन मे भी पुद्गल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नाम मिलता है। त्रिपिटकों एवं अन्य बौद्ध ग्रंथों में पुद्गल शब्द का प्रयोग चेतन के अर्थ में हुआ है। जैन ग्रंथों में पुद्गल को अचेतन द्रव्य माना गया है। जैन परम्परा में पुद्गल का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में सांख्य दर्शन में 'प्रकृति', न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'परमाणु' और चार्वाक दर्शन में 'भूत' शब्द का प्रयोग हुआ है।

भगवतीसूत्र 8/499 में गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया — भगवन्! जीव पुद्गल है या पुद्गली। भगवान महावीर ने कहा — "हे गौतम! यथार्थ में पुद्गल चेतन नहीं है और न ही इसका प्रयोग जीव या चेतन तत्त्व के रूप में किया जा सकता है। परन्तु संसार अवस्था में जीव पुद्गलों से सम्बद्ध रहता है। जैसे आग में डालने पर लोहे का गोला अग्नि तो नहीं बन जाता, परन्तु आग के गोले जैसा परिलक्षित होता है। अग्नि के परमाणु लोहे के गोले के परमाणुओं के साथ घुलमिल जाते हैं। उसी प्रकार संसार में पुद्गल भी जीव के साथ मिला हुआ-सा लगता है। इस अपेक्षा से व्यवहारनय से संसार अवस्था में जीव के लिए पुद्गल शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार संसार अवस्था में पुद्गल, जीव से सम्बंधित होने के कारण चेतन है अन्यथा पुद्गल एक जड़, अचेतन एवं भौतिक द्रव्य ही है।

2.0 जैनदर्शन में पुद्गल का स्वरूप

पुद्गल शब्द दो शब्दों के संयोग से बना है — पुद्+गल। पुद् का अर्थ होता है — पूरण अर्थात् संयुक्त होना और गल का अर्थ होता है गलन अर्थात् वियुक्त होना। पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जिसमें संश्लेषण (जुड़ने) और विश्लेषण (अलग होने) की क्षमता है। जो द्रव्य स्कन्ध अवस्था में पूरण और स्कन्ध या परमाणु के रूप में गलन को प्राप्त होता है, वह पुद्गल है। जैन सिद्धान्त दीपिका में पुद्गल को परिभाषित करते हुए कहा गया है — **"पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गल इति" (1/14)** अर्थात् जिसमें पूरण (एकीभाव) और गलन (पृथक्भाव) दोनो होते हैं, वह पुद्गल है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुद्गल का एक संकुचन रूप है तो दूसरा विस्तार रूप। विस्तार रूप में यह फैलते-फैलते महाचित्त स्कन्ध को प्राप्त होता है अर्थात् पुद्गल का पूर्ण शीर्ष महाचित्त स्कन्ध है और गलन के रूप में संकुचित होते-होते यह परमाणु रूप को प्राप्त होता है अर्थात् पुद्गल का गलन शीर्ष परमाणु है।

2.1 पुद्गल और गुण

पुद्गल मूर्त द्रव्य है। मूर्त्त द्रव्य वह होता है जिसमें तो इसमें स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण ये गुण होते है। इन गुणों के अभाव में पुद्गल की कल्पना संभव नहीं है। ये चारों गुण पुद्गल में अवश्य रहते हैं। ऐसा संभव नहीं कि पुद्गल में स्पर्श हो और रस, गंध, वर्ण नहीं हो या रस हो किंतु स्पर्श, गंध, वर्ण नहीं हो या गंध हो किंतु स्पर्श, रस, वर्ण नहीं हो या वर्ण हो किंतु स्पर्श, रस, गंध नहीं हो। निष्कर्ष के रूप में यही कहना होगा — **"स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गलः"**। अर्थात् पुद्गल वह है जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हों। इन गुणों के कारण ही पुद्गल रूपी कहलाता है। इन गुणों के कारण ही पुद्गल इन्द्रियों का भी विषय बनता है। बहुत से पुद्गल स्वयं इतने सूक्ष्म होते हैं, जिन्हें हम नेत्र से देख नहीं सकते। फिर भी वे रूपी कहलाते हैं, क्योंकि ये चारों गुण इनमें होते हैं। ये गुण अन्य पांचों द्रव्यों में नहीं हैं इसलिए अन्य पांचों द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव, अरूपी होते हैं। पुद्गल द्रव्य ही रूपी है, अतः इन्द्रिय ग्राह्य है। यहां इन्द्रिय ग्राह्य से तात्पर्य केवल चक्षुग्राह्य से नहीं है अपितु सभी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने से है।

पुद्गल के इन चार गुणों का विस्तार किया जाये तो पुद्गल के बीस गुण हो जाते हैं। वे इस प्रकार हैं —

1. स्पर्श — शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु, कर्कश।
2. रस — अम्ल, मधुर, कटु, कषाय, तिक्त।
3. गंध — सुगंध और दुर्गंध।
4. वर्ण — कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

परिणति के आधार पुद्गल के इन बीस गुणों का उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र (36/16 से 20) में भी मिलता है।

2.2 पुद्गल नित्य है

पुद्गल नित्य, शाश्वत द्रव्य है। यह अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। पुद्गल नियत, शाश्वत, ध्रुव, अक्षय और नित्य है। यह सतत् परिणमनशील होते हुए भी नित्य है। पुद्गल अनन्त काल से इस विश्व में हैं और अनंतकाल तक रहेंगे। इनका कभी अभाव नहीं होगा। जैनदर्शन के अनुसार जब आत्मा मुक्त हो जाता है तो लोकाग्र में सिद्धशिला में अवस्थित होता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। वह सिद्धशिला भी पुद्गलों से ही निर्मित है। यहां प्रश्न उठता है कि यदि मुक्त आत्मा के चारों ओर पुद्गल हैं तो आत्मा पुद्गलों से चिपकता क्यों नहीं है। पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित क्यों नहीं होते हैं। आत्मा अपने शुद्ध रूप में स्थित होकर अपने स्वभाव में परिणमन करते हुए भी पुद्गलों से आबद्ध नहीं होता, ऐसा क्यों? जैनदर्शन के अनुसार आत्मा में राग-द्वेष नहीं हैं। राग-द्वेष ऐसे कषाय हैं जो आत्मा को पुद्गलों की ओर आकृष्ट करते रहते हैं किंतु इनके न रहने से आत्मा का पुद्गल की ओर आकर्षण नहीं होता है। पुद्गल के रहते हुए भी आत्मा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता है। प्रत्येक स्थिति में पुद्गल, पुद्गल ही रहता है। इसे कभी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय या आकाश में भी नहीं बदला जा सकता। यह किसी भी स्थिति में अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं है। अत: यह एक शाश्वत द्रव्य है।

2.3 पुद्गल सत् द्रव्य है

जैनदर्शन में सत् की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—''उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'' अर्थात् उत्पाद-व्यय ध्रौव्यत्व तीनों की युति का नाम है -सत्। यहां सत् से तात्पर्य केवल त्रैकालिक सत्यता से नहीं है। यहां सत् से तात्पर्य है कि द्रव्य में उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्यत्व है। इसी अर्थ में पुद्गल को सत् कहा गया है। पुद्गल में उत्पाद और व्यय है अत: यह अशाश्वत है उसमे ध्रौव्यत्व है अत: यह शाश्वत है। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। द्रव्य रूप में यह शाश्वत है क्योंकि प्रत्येक स्थिति में इसका अस्तित्व रहेगा। पर्याय रूप में यह अशाश्वत है क्योंकि इसके स्कन्ध बनते बिगड़ते रहते हैं। कभी द्वयणुक का पर्याय बनता है तो कभी त्रयणुक का और कभी चतुरणुक का अर्थात् एक पर्याय बनता है तो दूसरा बिगड़ता है। एक का उत्पाद होता है तो दूसरे का व्यय होता है किंतु इस उत्पाद या व्यय की स्थिति में भी पुद्गल, पुद्गल ही रहता है। उसके अस्तित्व की हानि किसी भी स्थिति में नहीं होती है।

2.4 पुद्गल अचेतन है

जैनदर्शन के छ: द्रव्यों में एकमात्र चेतन द्रव्य जीव ही है, शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। अत: पुद्गल भी अचेतन है। कम्प्यूटर की कृत्रिम बौद्धिकता के सारे कार्य भी चेतन रहित होने से अजीव की कोटि में ही आयेंगे। जैनदर्शन में चेतन-अचेतन की भेदरेखा चैतन्य गुण के आधार पर निर्धारित की गयी है। यद्यपि जीव द्वारा ज्ञान आदि कार्य में पुद्गल की सहायता ली जाती है पर चैतन्य पुद्गल का गुण नहीं, अत: पुद्गल अचेतन है।

2.5 पुद्गल परिणामी है

पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है—1.सूक्ष्म, 2. बादर। सूक्ष्म परिणति वाला स्कन्ध चतु:स्पर्शी होता है। चतु:स्पर्शी होने के कारण यह अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होकर भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं बनता। उत्तरवर्ती चार स्पर्श (मृदु, कठोर, गुरु, लघु) बादर परिणाम वाले स्कन्धों में ही होते हैं। मृदु, कठोर, गुरु और लघु—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हैं। मौलिक स्पर्श चार ही हैं—शीत-उष्ण और स्निग्ध-रूक्ष । रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरू। शीत और स्निग्ध की बहुलता से मृदु स्पर्श और उष्ण एवं रूक्ष की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की निवृत्ति के साथ-साथ जहां स्थूल परिणति होती है, वहां चार स्पर्श भी बढ़ जाते हैं। पुद्गल जड़ पदार्थ होते हुए भी सतत् परिणमन करता रहता है। इसके कुछ परिणमन दृश्य होते हैं, कुछ अदृश्य भी होते हैं। यह परमाणु के रूप में हो या स्कन्ध के रूप में हो, सतत् परिवर्तनशील रहता है। इसमें कुछ न कुछ घटित होता रहता है।

2.6 परिणमन के तीन कारण

पुद्गल में हर क्षण परिणमन होता रहता है।परिणमन की अपेक्षा से पुद्गल के तीन प्रकार माने गये हैं—

1. वैस्रसिक (स्वाभाविक), 2. प्रायोगिक, 3. मिश्र।

जिनका परिणमन स्वभावत: होता है वे पुद्गल वैस्रसिक हैं। इस परिणमन में किसी की अपेक्षा नहीं होती है। यह पुद्गल का अपना स्वत: परिणमन है जैसे उल्कापात आदि (Metorite)।

जीव के प्रयोग से शरीर आदि रूप में जो परिणमन होता है, वह प्रायोगिक परिणमन है जैसे जीवित शरीर (Living Body)।

जीव के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से जो परिणमन होता है, वह मिश्र परिणमन हैं जैसे मृत शरीर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.7 पुद्गल कब से कब तक

प्रवाह की अपेक्षा से पुद्गल अनादि काल से है और अनंत काल तक रहेगा किंतु स्थिति की अपेक्षा से सादि और सान्त है। जैसे परमाणु से स्कन्ध बना तो स्कन्ध की आदि हो गई और स्कन्ध भेद से परमाणु बना तो यह सान्त स्कन्ध हो गया है। परमाणु, परमाणु के रूप में और स्कन्ध, स्कन्ध के रूप में रहे तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं। बाद में तो परिवर्तन अवश्यंभावी है। यह इनकी काल सापेक्ष स्थिति है। क्षेत्र सापेक्ष स्थिति भी यही है।अर्थात् परमाणु या स्कन्ध के एक स्थान में अवस्थित रहने की कालावधि भी उत्कृष्टत: असंख्यात काल ही है। उसके बाद उनको वह क्षेत्र छोड़ना ही पड़ता है।

2.8 पुद्गल के विविध रूप

पुद्गल के मूल अर्थ में ही यह देखा गया है कि पुद्गल पूरण और गलन धर्मा है। गलन होते-होते यह परमाणु रूप में आता है तो परमाणुओं के समुदय से विविध प्रकार के स्कन्ध बनते और बिगड़ते हैं। जिसका स्वरूप इस प्रकार समझाया जा सकता है—

1. दो परमाणु मिलने से द्विप्रदेशी (द्वयणुक) स्कन्ध बनता है।

जैसे [o] + [o] = [oo]

2. तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी (त्रयणुक) स्कन्ध बनता है।

जैसे [o] + [o] + [o] = [ooo]

3. चार परमाणु मिलने से चतु:प्रदेशी (चतुरणुक) स्कन्ध बनता है।

जैसे [o] + [o] + [o] + [o] = [oooo]

इसी प्रकार अनंत परमाणुओं के सम्बन्ध से अनन्त प्रदेशी स्कन्ध बनते हैं और स्कन्ध के भेद से परमाणु हो जाते हैं।

स्कन्ध के भेद परमाणु के रूप में—

[oo] 1. द्विप्रदेशी स्कन्ध = [o] + [o]
एक परमाणु एक परमाणु

2. [ooo] त्रिप्रदेशी स्कन्ध = [o] + [o] + [o]
एक परमाणु एक परमाणु एक परमाणु

अथवा

[oo] + [o]
दो परमाणु + एक परमाणु

3. चतु:प्रदेशी स्कन्ध के चार विकल्प होते हैं—

अ. चारों पृथक्-पृथक् परमाणु

[o] + [o] + [o] + [o]

ब. दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध

[o] + [o] + [oo]

स. दो द्विप्रदेशी स्कन्ध

[oo] + [oo]

द. एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध

[o] + [oo]

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि—दो से लेकर अनन्त तक के एकीभूत परमाणु स्कन्ध कहलाते हैं। दो, चार, दस, सौ, हजार, करोड़, संख्येय, असंख्येय और अनन्त परमाणुओं तक का एक स्कन्ध हो सकता है। दो परमाणुओं से मिलकर बनने वाला द्विप्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओं से मिलकर बनने वाला त्रिप्रदेशी स्कन्ध, चार परमाणुओं से मिलकर बनने वाला चतु:प्रदेशी स्कन्ध कहलाता है। इसी प्रकार दस प्रदेशी, हजार प्रदेशी, लाख प्रदेशी, करोड़ प्रदेशी, संख्येय, असंख्येय एवं अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। हमें केवल अनन्त प्रदेशी स्कन्ध ही दृष्टिगोचर होते हैं। उससे छोटे स्कन्ध हमारे चक्षु के विषय नहीं बन पाते।

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या स्कन्ध केवल परमाणुओं के मिलने से ही बनते हैं या अन्य किसी माध्यम से भी बनते हैं।

जैनसिद्धान्त दीपिका में कहा गया है—**'तद् भेदसंघाताभ्यामपि स्कन्धस्य भेदतसंघाततोऽपि स्कन्धो भवति, भिद्यमाना शिला संहन्यमाना: तन्तवश्च'** अर्थात् स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं अपितु स्कन्ध अपने भेद और संघात होने से भी निर्मित होता है अर्थात् स्कन्ध के टूटने और इकट्ठे होने से भी स्कन्ध बनता है।

स्कन्ध भेद से स्कन्ध

स्कन्ध के टूटने से भी स्कन्ध बनते हैं, जैसे एक बड़ी पत्थर की शिला है, जो स्वयं स्कन्ध है। इसके कई टुकड़े कर दिये गये। अब उनमें से प्रत्येक टुकड़ा एक स्कन्ध बन गया। दस मीटर कपड़े का एक टुकड़ा है, यह भी एक स्कन्ध है। इस कपड़े के दो-दो मीटर के पांच टुकड़े कर दिये गये तो पांच स्कन्ध बन गये। इसप्रकार स्कन्ध को तोड़ने से स्कन्ध बनते हैं और यह तब तक बनते हैं जब तक वह परमाणु न हो जायें अर्थात् जब तक दो प्रदेश भी होंगे, तब तक वह स्कन्ध ही कहलायेगा।

स्कन्ध के संघात से स्कन्ध

जब स्कन्ध आपस में मिलते हैं तो नये-नये स्कन्ध निर्मित होते हैं। जैसे दरवाजे में लकड़ी के कई टुकड़े जुड़े होते हैं। हर लकड़ी का टुकड़ा अपने आप में स्कन्ध है और ये मिलकर एक नये स्कन्ध को बनाते हैं। मिले हुए वस्त्र में दरजी कई कपड़े के टुकड़ों को जोड़कर वस्त्र का निर्माण करता है। हर टुकड़ा स्कन्ध है पर जब ये मिलकर कपड़े का रूप लेते हैं तो एक नया स्कन्ध बन जाता है।

स्वाभाविक स्कन्ध एवं कृत्रिम स्कन्ध

प्राय: धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय-इन अस्तिकाय द्रव्यों को भी स्कन्ध कहा जाता है। चूंकि ये स्कन्ध कभी बनते बिगड़ते नहीं हैं। ये यथावत रूप में रहते है। इसलिए इन स्कन्धों को स्वाभाविक कहा जाता है। पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध चूंकि भेद और संघात से तथा परमाणु संघात से बनते-बिगड़ते रहते हैं, ये स्थायी नहीं हैं अत: इन्हें कृत्रिम स्कन्ध कहा जाता है।

2.9 पुद्गल का अप्रदेशी एवं सप्रदेशी रूप

पुद्गल द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से अलग-अलग स्थिति में होते हैं, जिसका विवरण इस प्रकार है—

द्रव्य की दृष्टि से—स्कन्ध सप्रदेशी ही होते हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से—स्कन्ध अप्रदेशी भी होते हैं और सप्रदेशी भी। जो पुद्गल स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश में ठहरने वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो आकाश के एक से अधिक प्रदेश में ठहरने वाला होता है, वह सप्रदेशी होता है।

काल की दृष्टि से— एक समय की स्थिति वाला स्कन्ध अप्रदेशी और इससे अधिक स्थिति वाला सप्रदेशी कहलाता है।

भाव की दृष्टि से—एक गुण (Unit) वाला स्कन्ध अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी होता है।

इसी प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से परमाणु अप्रदेशी ही होते हैं। काल की अपेक्षा से एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी होता है। । भाव की अपेक्षा से एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बोध प्रश्न

पुद्गल की परिणति कैसे होती है?

3.0 पुद्गल के भेद

विभिन्न दृष्टियों से पुद्गल के अनेक भेद किये जाते हैं, जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

3.1 एक भेद

जो भी पदार्थ पूरण-गलन से युक्त है वह पुद्गल है अर्थात् सभी प्रकार के पुद्गलों को 'पुद्गल' की ही संज्ञा से अभिहित किया जाता है अत: इस दृष्टि से पुद्गल का एक ही प्रकार है। अपने विशिष्ट गुण की दृष्टि से यह एक ही है।

3.2 दो भेद

पुद्गल के दो भेद भी मिलते हैं—**'परमाणु: स्कन्धश्च'**। 1. परमाणु, 2. स्कन्ध।

'अविभाज्य: परमाणु:' इस परिभाषा के आधार पर परमाणु को अविभाज्य कहा गया है। परमाणु का अर्थ है परम+अणु। परमाणु सर्व सूक्ष्म होता है, अतएव वह अविभाज्य होता है। परमाणु का लक्षण बताते हुए आचार्यों ने कहा है कि यह एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त होता है और दृश्यमान कार्यों के द्वारा जिसका अस्तित्व जाना जाता है, उसे परमाणु कहते हैं।

परमाणुओं के एकीभाव को स्कन्ध कहते हैं। दो से लेकर अनंत तक के परमाणु एकीभूत होकर विविध प्रकार के स्कन्ध बनाते हैं। स्कन्ध के भेद और संघात से भी स्कन्ध का निर्माण होता है जिसका विवेचन इसी अध्याय में किया जा चुका है।

3.3 पुद्गल के चार भेद

जैनागमों एवं जैनाचार्यों ने पुद्गल को जिन चार भागों में विभक्त किया है, वे इस प्रकार हैं—

1. स्कन्ध (परमाणुओं के समूह),
2. देश (स्कन्ध का कल्पित भाग),
3. प्रदेश (स्कन्ध से पृथक् न होने वाले अविभाज्य अंश),
4. परमाणु (स्कन्ध से पृथक् अविभाज्य तत्त्व)।

3.4 पुद्गल के छ: भेद

पुद्गल के सूक्ष्म, बादर स्कन्धों की दृष्टि से पुद्गल के छ: भेद भी किये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. बादर-बादर,	2. बादर,	3. बादर-सूक्ष्म,
4. सूक्ष्म-बादर,	5. सूक्ष्म,	6. सूक्ष्म-सूक्ष्म।

1. बादर-बादर—जो स्थूल स्कन्ध एक बार टूटने पर पुन: उसी रूप में न बन सके, न जुड़ सके उन्हें बादर-बादर स्कन्ध कहते हैं, जैसे—हीरा, मोती, पत्थर, लकड़ी।

2. बादर—जो स्थूल स्कन्ध एक बार टूट कर अलग हो जाने के बाद भी पुन: मिलाने पर उसी रूप में मिल जाये उन्हें बादर स्कन्ध कहते हैं, जैसे तेल, घी, दूध, पानी।

3. बादर-सूक्ष्म—जो स्कन्ध सूक्ष्म होने से आंखों द्वारा दिखाई नहीं देते पर इन्द्रिय गम्य होते हैं उसे बादर-सूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं, जैसे—गंध, रस एवं स्पर्श आदि। यह स्कन्ध चाक्षुष नहीं है।

4. सूक्ष्म-बादर—जो स्कन्ध देखने पर तो स्थूल प्रतीत होते हैं किंतु उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता, उसे सूक्ष्म-बादर स्कन्ध कहते हैं। जैसे—धूप, छाया आदि।

5. सूक्ष्म—जो स्कन्ध होते हुए भी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण न हो सके उसे सूक्ष्म स्कन्ध कहते हैं, जैसे मनोवर्गणा, भाषावर्गणा आदि इन्द्रियातीत स्कन्ध।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6. सूक्ष्म-सूक्ष्म — अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्धों को सूक्ष्म-सूक्ष्म के अंतर्गत रखा गया है। कार्मण वर्गणा आदि अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्धों को इस वर्ग में रखा गया है।

3.5 पुद्गल के आठ भेद

दो परमाणुओं से लेकर अनन्त या अनन्त-अनन्त परमाणुओ के संयोग से जो स्कन्ध बनते हैं, उनका वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। उनमें से एक है — जीव के काम में आने वाले पुद्गल-स्कन्धों का वर्गीकरण। सूक्ष्म-पुद्गल-स्कन्ध जीव के काम में नहीं आते, अत: यह स्पष्ट है कि केवल अनन्त-अनन्त परमाणुओं के संयोग से बनने वाले स्कन्ध ही जीव के लिए उपयोगी बनते हैं। एक ही प्रकार के ऐसे ही पुद्गल स्कन्धों की श्रेणी या जाति को वर्गणा (Class) कहा जाता है अर्थात् वर्गणा का अर्थ है सजातीय पुद्गलों का समूह। पुद्गल स्कन्धो की यों तो अनंत वर्गणाएं होती हैं किंतु जीव के लिए उपयोगी आठ वर्गणाओं का विवेचन यहां किया जा रहा है — 1. औदारिक वर्गणा, 2. वैक्रिय वर्गणा, 3. आहारक वर्गणा, 4. तैजस वर्गणा, 5. कार्मण वर्गणा, 6. श्वासोच्छवास वर्गणा, 7. भाषा वर्गणा, 8. मनो वर्गणा।

इनमें से एक से पांच वर्गणाएं पांच प्रकार के शरीरों के निर्माण में उपयोगी होती हैं। इस प्रकार जैनदर्शन में पांच प्रकार के शरीर का उल्लेख भी मिलता है, जो इस प्रकार है — 1. औदारिक शरीर, 2. वैक्रिय शरीर, 3. आहारक शरीर, 4. तैजस शरीर 5. कार्मण शरीर।

उपर्युक्त पांच वर्गणाओं के अतिरिक्त शेष तीन वर्गणाएं क्रमश: श्वास-उच्छवास, वाणी और मन की क्रियाओं में काम आती हैं। आठों वर्गणाओं का विवरण इस प्रकार है —

1. औदारिक वर्गणा — औदारिक शरीर के रूप में प्रयुक्त होने वाले सजातीय पुद्गल समूह को औदारिक वर्गणा करते है। औदारिक वर्गणा पुद्गलों से अस्थि, मज्जा, मेद, मांस, रक्त, रस एवं शुक्र रूप धातुमय शरीर का निर्माण होता है। मनुष्य और तिर्यंच (पशु, कीट, पतंग, पक्षी एवं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि) जीवों के शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से ही निर्मित होते हैं।

2. वैक्रिय वर्गणा — छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि तरह-तरह की आकृति निर्माण में समर्थ शरीर का निर्माण जिन पुद्गलों से होता है उन्हें वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल कहते हैं। वैक्रिय शरीर में रक्त, मांस, मज्जा आदि धातुएं नहीं होती हैं। तथा जो मृत्यु के बाद कपूर की भांति उड़ जाता है। देव और नारक जीवों को ऐसा शरीर जन्म से सहज ही प्राप्त होता है। वायुकायिक जीव, वैक्रियलब्धि (जन्म से नहीं, अपितु विशेष उपक्रम से प्राप्त सामर्थ्य) सम्पन्न मनुष्य और तिर्यंच जीवों को भी यह प्राप्त हो जाता है।

3. आहारक वर्गणा — विशेष साधना या उत्कृष्ट तपस्या से प्राप्त आहारक लब्धि (योगशक्ति) से उद्भूत शरीर पुद्गल समूह से निर्मित होता है उसे अहारक वर्गणा कहते हैं। इस शरीर का उपयोग चतुर्दशपूर्वधर कहते है। विशिष्ट योग शक्ति संपन्न मुनि के कोई व्यक्ति गहन विषय से संबंधित प्रश्न पूछता है। वह उस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ होता है तो वह आहारक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर एक सुन्दर आकृत्ति का निर्माण करता है। उस आकृति को सर्वज्ञ के पास भेजकर प्रश्न का उत्तर मंगवाता है। वह आकृति प्रश्न का उत्तर लेकर पहुंचती है। योगी प्रश्नकर्ता को समाधान दे देताा है। ये सारी क्रियाएं इतनी द्रुतगति से होती है कि प्रश्नकर्ता को उसका अहसास भी नहीं होता।

इस प्रकार आहारक वर्गणा से निर्मित आहारक शरीर का उपयोग विशेष रूप से जिज्ञासा के समाधान में होता है।

4. तैजस वर्गणा — जिस पुद्गल समूह से तैजस शरीर का निर्माण होता है वह तैजस वर्गणा कहलाती है। यह प्रत्येक प्राणी के स्थूल शरीर (औदारिक या वैक्रियक) के साथ तो रहती ही है किंतु स्थूल शरीर छूटने के बाद भी यह सूक्ष्म शरीर के रूप में जीव के साथ रहती है अर्थात् मृत्यु के उपरान्त भी यह जीव को नहीं छोड़ती है। यह एक प्रकार से तेजोमय परमाणुओं की संरचना है, जिसकी तुलना जैव-विद्युत-प्लाज्मा के साथ की जा सकती है। तैजस वर्गणा के पुद्गल चूंकि विद्युन्मय ऊर्जा के रूप में होते हैं इसलिए जीव की पाचन क्रिया में भी उपयोगी होते हैं। तैजस शरीर (विद्युत शरीर) की ऊर्जा का विशेष नियमन कर व्यक्ति तेजोलब्धि नामक शक्ति उत्पन्न कर सकता है।

5. कार्मण वर्गणा — यह तैजस शरीर से सूक्ष्मतर होती है। यह भी जीव के साथ सदा रहती है। कार्मण वर्गणा से निष्पन्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कर्म शरीर स्थूल शरीर के साथ रहकर जहां विभिन्न प्रकार के परिणाम देता है वही सूक्ष्म शरीर के रूप में जीव के साथ रहकर उसे भटकाता रहता है। आठो कर्मों के पुद्गल समूह इस वर्गणा के अंतर्गत आते हैं। कार्मण वर्गणा के पुद्गल समूह जीवों की सत्-असत् क्रिया के प्रतिफल के रूप में जीव के साथ बंध जाते हैं। ये जैसे होते हैं, वैसे ही जीव भी प्रभावित होता है।

6. श्वासोच्छ्वास वर्गणा—श्वास लेने एवं श्वास छोड़ने अर्थात् श्वास एवं प्रश्वास के योग्य पुद्गल समूह इस वर्गणा के अंतर्गत आते हैं। ऑक्सीजन के स्कन्धाणु इसी वर्गणा के हैं।

7. भाषा वर्गणा—जब कोई भी जीव बोलने की क्रिया करता है या बोलता है तो वह इस वर्गणा के पुद्गल समूह को ही ध्वनि में परिवर्तित करता है। अत: वचन रूप में प्रयुक्त होने वाले पुद्गल समूह का नाम भाषा वर्गणा है।

8. मनोवर्गणा—चिंतन आदि मन की प्रवृत्तियों में सहायक बनने वाले पुद्गल-समूह को मनोवर्गणा कहते हैं। कोई भी मननशील प्राणी जब तक चिंतन या मनन की क्रिया करता है तो वह पहले मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन्हीं की सहायता से चिंतन, मनन की क्रियाएं सम्पन्न करता है।

उपर्युक्त वर्गणाओं में से प्रथम चार वर्गणाएं अष्टस्पर्शी स्थूल स्कन्ध हैं। वे हल्के-भारी, मृदु-कठोर भी होते हैं। श्वासोच्छ्वास, कार्मण, वचन और मन—ये चार वर्गणाएं चतु:स्पर्शी सूक्ष्म स्कन्ध हैं इनमें केवल शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं, शेष चार स्पर्श (हल्का-भारी, मृदु-कठोर) इनमें नहीं होते हैं। ये वर्गणाएं पूरे लोक में व्याप्त हैं किंतु इनका प्रयोग तभी हो सकता है, जब ये जीव द्वारा गृहीत होते हैं। संसार का कोई भी प्राणी इन वर्गणाओं में से अपने-अपने योग्य वर्गणाओं को ग्रहण किए बिना अपना काम नहीं कर सकता। वह हर क्षण नई वर्गणा को ग्रहण करता है और छोड़ता रहता है।

बोध प्रश्न

वर्गणा किसे कहते है।

4.0 पुद्गल की अवस्थाएं

जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण मानता है और एक-एक गुण की अनन्त पर्याय मानता है। अत: प्रत्येक द्रव्य की अनंत-अनंत पर्यायें होती हैं। जो पर्याय परिणमन में अन्य निमित्तों की अपेक्षा नहीं रखते है वे स्वभाव-पर्याय और जो अन्य निमित्तों की अपेक्षा रखते हैं वे विभाव-पर्याय कहलाते हैं। पुद्गल का परमाणु रूप उसका स्वभाव गुण है और उसका परिणमन ही स्वभाव पर्याय है। स्कन्ध पुद्गल के वैभाविक गुण है और उनका परिणमन विभाव पर्याय है। पुद्गल के विभाव पर्याय ही पुद्गल की अवस्थाओं के रूप में जाने जाते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि परमाणुओं के एकीकरण या पृथक्करण के परिणाम स्वरूप जो पुद्गलस्कन्ध बनते हैं, वे संख्या में दस माने जाते हैं जिन्हें पुद्गल की अवस्थाओं या विभाव पर्याय के रूप में जाना जाता है।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप ये दस पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने पुद्गल को शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत आदि पर्यायों से युक्त माना है। जैनसिद्धान्त दीपिका में भी इन अवस्थाओं का उल्लेख इस प्रकार हुआ है। जैन सिद्धान्त दीपिका का सूत्र है—**'शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद- तमश्छायातपोद्योतप्रभावांश्च' (1/15)** शब्द आदि पुद्गल के विभिन्न पर्याय हैं, जो इस प्रकार हैं—1. शब्द (Sound), 2. बन्ध (Fusion), 3. सौक्ष्म्य (Subtelty), 4. स्थौल्य (Grosseness), 5. संस्थान (Configuration), 6. भेद (Fission), 7. तम (Darkness), 8. छाया (Shadow), 9. आतप (Sunlight), 10. उद्योत (Moonlight)। 11. प्रभा।

जैन सिद्धान्त दीपिका में जैसे सूर्य के प्रकाश को आतप और चन्द्रमा के प्रकाश को उद्योत कहा गया है उसी प्रकार रत्नों के प्रकाश को 'प्रभा' कहकर दस अवस्था के स्थान पर ग्यारह अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है। किंतु अन्यत्र 'रत्नों' के प्रकाश को पृथक् न मानकर पुद्गल की दस अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है, जिसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

4.1 शब्द

नैयायिक आदि कुछ दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। उनके अनुसार चूंकि शब्द आकाश में होता है अत:

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह आकाश का गुण है। जैन दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यदि आकाश में होने मात्र से शब्द आकाश का गुण है तो गति भी आकाश में होती है, 'स्थिरता' भी आकाश में होती है तो क्या ये आकाश के गुण माने जाएंगे। जैसे ये आकाश के गुण नहीं माने जाते वैसे ही शब्द को भी आकाश का गुण नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि शब्द मूर्त्त है वह अमूर्त्त आकाश का गुण कैसे हो सकता है? जो जिसका गुण होता है वह सदा अपने मूल के समान होता है। अगर शब्द आकाश का गुण है और शब्द मूर्त्त है तो आकाश को भी मूर्त्त होना चाहिए। किंतु आकाश अमूर्त्त है और शब्द मूर्त्त है। यहां प्रश्न हो सकता है कि शब्द मूर्त्त कैसे? यदि शब्द मूर्त्त न हो तो वह कर्णेन्द्रिय का विषय ही नहीं बन सकता। इन्द्रियां मूर्त्त को ही ग्रहण करती हैं, अमूर्त्त को नहीं। अत: शब्द मूर्त्त है, यह बात स्पष्ट है।

इस प्रकार जैनदर्शन नैयायिक आदि की तरह शब्द को आकाश का गुण न मानकर पौद्गलिक मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार शब्द शक्तिमान पुद्गलद्रव्य स्कन्ध है। वक्ता बोलने से पहले भाषा वर्गणा के पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करता है। भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और अन्त में उत्सर्जन करता है अर्थात् उसे छोड़ता है। उत्सर्जन द्वारा छोड़े गये भाषा के पुद्गल पूरे आकाश में फैल जाते है। शब्द बोलने में वक्ता को तीन प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है—

1. भाषा वर्गणा के पुद्गल का ग्रहण।
2. ग्रहण किये गये पुद्गलों का भाषा में परिणमन।
3. भाषा में परिणत पुद्गलों का आकाश में उत्सर्जन।

तीसरी प्रक्रिया से स्पष्ट है कि हम जो सुनते हैं वह वक्ता का मूल शब्द नहीं होता है। वक्ता का शब्द आकाश प्रदेशों के माध्यम से श्रोता तक पहुंचता है।

4.1.1 शब्द के प्रकार

चूंकि शब्द उत्पन्न होता है, नित्य एवं शाश्वत नहीं है अत: उत्पत्ति की दृष्टि से शब्द के दो प्रकार हैं—

1. स्वाभाविक, 2. प्रायोगिक।

1. स्वाभाविक शब्द—ऐसे शब्द जो सहज ही होते हैं, जिनकी उत्पत्ति में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। उन अप्रयत्न जन्य शब्द को स्वाभाविक शब्द कहते हैं जैसे मेघ गर्जन। यह पूर्णतया स्वाभाविक ध्वनि है। इस ध्वनि के लिए बादल को प्रयास नहीं करना पड़ता है। यह सहज ही होता है।

2. प्रायोगिक शब्द—जो शब्द प्रयत्न पूर्वक होते हैं, उन्हें प्रायोगिक शब्द कहते हैं। यह दो प्रकार का है—

(i) भाषात्मक शब्द, (ii) अभाषात्मक शब्द।

1. भाषात्मक शब्द—जो शब्द भाषा के रूप में अभिव्यक्त होते हैं वे भाषात्मक शब्द कहलाते हैं। जैसे अध्यापक कक्षा में पढ़ा रहा है, उसके शब्द भाषात्मक हैं। मनुष्य, पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियां भाषात्मक है। इसके भी दो भेद हैं—

(अ) अक्षरात्मक, (ब) अनक्षरात्मक।

जो अक्षर रूप में बोले एवं लिखे जाते हैं, वे अक्षरात्मक शब्द हैं और जो अक्षर रूप में नहीं होते हैं वे अनक्षरात्मक शब्द है। रोने, चिल्लाने, खांसने, फुसफुसाने आदि तथा पशु-पक्षियों की ध्वनियां— अनक्षरात्मक हैं। इन्हें कभी अक्षरबद्ध नहीं किया जा सकता है।

2. अभाषात्मक शब्द—वाद्य यंत्रों से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह अभाषात्मक है। चूंकि वाद्य यंत्र विविध प्रकार के होते हैं अत: इस शब्द के चार भेद किये गये हैं—तत, वितत, घन, शुषिर।

1. तत्—जो ध्वनि चमड़े की झिल्लियों के कंपन से उत्पन्न होती है, जैसे —तबला, ढोलक, मृदंग आदि।

2. वितत—तार के कंपन से उत्पन्न होने वाली ध्वनि को वितत कहते हैं, जैसे—सितार, वीणा आदि।

3. घन—ठोस द्रव्यों के आघात से उत्पन्न ध्वनि को घन कहते हैं जैसे —घण्टा, ताल आदि।

4. शुषिर—ऐसे वाद्य यंत्र जिनमें रिक्त स्थान होते हैं, उन रिक्त स्थानों में वायु के कंपन से जो ध्वनि होती है, उसे शुषिर कहते हैं, जैसे—शंख, बांसुरी आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

निम्न चार्ट से इसे समझा जा सकता है—

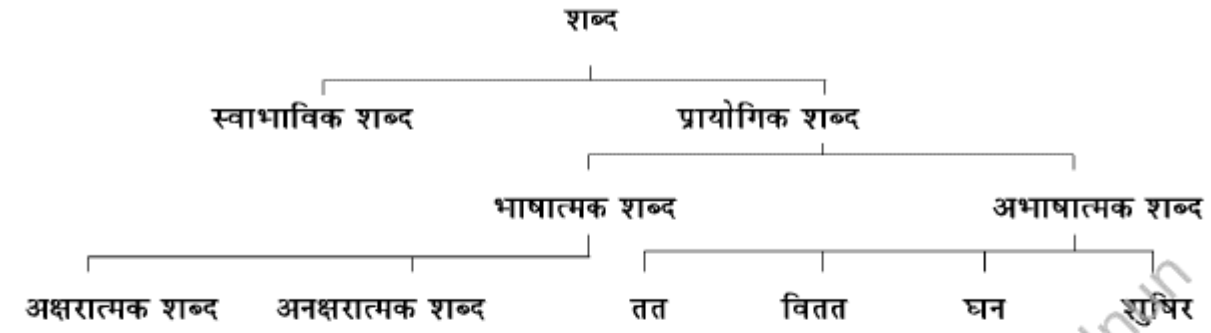

जैनदर्शन में एक अन्य अपेक्षा से शब्द के तीन भेद किये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

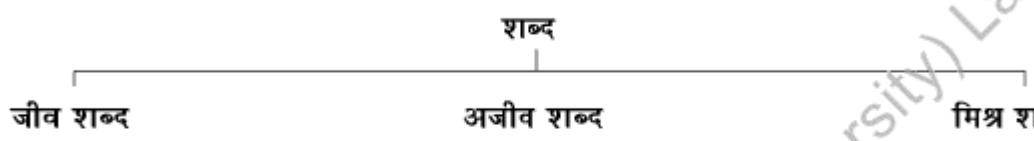

1. **जीव शब्द**— जीव द्वारा जो शब्द होता है, उसे जीव शब्द कहते हैं, जैसे —कोयल का कूंकना,कुत्ते का भौंकना, मनुष्य का बोलना आदि।

2. **अजीव शब्द**— अचेतन द्वारा होने वाला शब्द अजोव शब्द कहलाता है, जैसे —बादल की गर्जना इत्यादि।

3. **मिश्र शब्द**— वे शब्द मिश्र शब्द कहलाते हैं, जो जीव और अजीव दोनों के योग से होते हैं। उदाहरण के लिए जब एक व्यक्ति बांसुरी बजाता है तो इसमे व्यक्ति जीव और बांसुरी अजीव दोनों का संयोग होता है तभी ध्वनि होती है। दोनों अलग-अलग ध्वनि नहीं कर सकते अत: इसे मिश्र शब्द के अंतर्गत रखा गया है।

4.2 बन्ध (Fusion)

परमाणुओं के संयोग-वियोग से पुद्गलों के जो विभिन्न पर्याय बनते हैं, वे बन्ध कहलाते हैं। **'संश्लेष: बन्ध:'** अर्थात् संयोग ही बंध है। दूसरे शब्दों में अवयवों का आपस में अवयव और अवयवी के रूप में जो परिणमन होता है, वह बंध है। बंध में जो संयोग है वह प्रचलित संयोग से भिन्न है। बंध मे जिन दो तत्त्वों में संयोग होता है, वह एकमेक हो जाते हैं किंतु संयोग में ऐसा नहीं होता है अत: बंध में एकत्व होता है किंतु संयोग में नहीं। इसीलिए रसायनशास्त्र में भी संभवत: बंध को यौगिक (Compound) और संयोग को मिश्रण (Mixture) कहते हैं। बंध एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ होता है। बन्ध दो से अधिक स्कन्धों का भी होता है तथा बन्ध एक या एक से अधिक परमाणुओं का और एक या एक से अधिक स्कन्धों का भी होता है और पुद्गल परमाणुओं का जीव द्रव्य के साथ भी बन्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—**'सकषायत्वात् जीवो कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्ध:'**।

चूंकि पुद्गलों की सक्रियता से बन्ध होता है तो हर बन्ध सर्जित होता है। बन्ध होता है तो इसका कारण क्या है? बन्ध का उपादान तो कर्म पुद्गल स्वयं है। इसका निमित्त कारण जीव हो सकता है, जैसे मेज का उपादान स्वयं लकड़ी है और निमित्त बढ़ई है। चूंकि बंध निर्मित होता है तो हम जानते हैं कि जहां निर्माण है वहां विनाश भी है। अत: बन्ध नष्ट भी होता है। संभवत: दर्शन में इसीलिए मोक्ष की अवधारणा को स्वीकृति मिली है कि जहां बन्ध सर्जित है वहां बन्ध का अंत भी निश्चित है।

4.2.1 बंध के प्रकार

बन्ध के दो प्रकार हैं— 1. वैस्रसिक बन्ध-स्वभावजन्य बन्ध। 2. प्रायोगिक बन्ध-प्रयत्नजन्य बन्ध।

1. वैस्रसिक बन्ध— यह बन्ध सहज होता है। इसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती है। आकाश में बादलों की घटा बनती है, इन्द्रधनुष भी बनता है। ये सहज ही बनते हैं, इसलिए इस बन्ध को वैस्रसिक कहा जाता है। वैसे वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि दोनों हैं। जीव का पुद्गल के साथ जो सम्बन्ध है वह अनादि है।धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का बंध भी अनादि है। द्वयगुण, त्रयगुण आदि के पुद्गल स्कन्ध बनते है वह सादिबन्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. प्रायोगिक बन्ध—प्रायोगिक बन्ध सहज नहीं है। यह प्रयत्नजनित है। इसके लिए प्रयास करने पड़ते हैं। दर्जी कपड़े सिलता है, बढ़ई मेज बनाता है, कारीगर ईमारत बनाता है, इसमें विभिन्न तत्त्वों का जो सम्बन्ध है, वह प्रयत्न द्वारा होता है। यह बन्ध अनादि नहीं क्योंकि यह प्रयत्न जन्य होता है। अत: यह सादि है। जब यह निर्मित होता है तब इसका निश्चित समय होता है अत: इसे सादि कहा गया है। हम यह भी जानते हैं कि जिसकी आदि (प्रारंभ) है, उसका अन्त भी है। अत: प्रायोगिक बन्ध का प्रारम्भ है तो इनका अंत भी है। अत: यह सादि और सान्त है।

4.3 भेद

'विश्लेष: भेद:' अर्थात् स्कन्धों का अलग होना ही भेद है। जब कुछ परमाणु अपने स्कन्धों से टूटकर अलग होते हैं तो उन्हें भेद कहते हैं। अंतरंग और बहिरंग—इन दोनों प्रकार के निमित्तों से जब स्कन्ध अन्य स्कन्ध या परमाणु में विघटित होते हैं तो यह विघटन भी भेद है। भेद के भी दो प्रकार हैं— 1. स्वाभाविक भेद, 2. प्रायोगिक भेद।

1. स्वाभाविक भेद—जब पौद्गलिक स्कन्ध में स्वत: विघटन होता है अर्थात् अलग होने का कोई अन्य निमित्त नहीं होता है तो उसे स्वाभाविक भेद (वैस्रसिक भेद) कहते हैं, जैसे—बादलों से जल का गिरना, आसमान से बिजली गिरना, ओले पड़ना आदि। चूंकि ये स्वत: अलग होते हैं अत: इस भेद को स्वाभाविक भेद कहते हैं।

2. प्रायोगिक भेद—प्रायोगिक भेद सहज नहीं है। यह प्रयत्न द्वारा संभव है। किसी न किसी निमित्त के सहारे जो भेद होता है वह प्रायोगिक भेद है। घड़े का फोड़ना, लकड़ी का काटना, पत्थर को तरासना, कपड़े को काटना आदि-आदि क्रियाएं किसी व्यक्ति, बढ़ई, कारीगर एवं दर्जी के द्वारा होती हैं। इन समस्त भेदों में कोई न कोई निमित्त अवश्य है अत: यह भेद प्रायोगिक है।

तत्त्वार्थ की टीका सर्वार्थसिद्धि में भेद के छह प्रकार माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. उत्कर—आरी से लकड़ी के चीरने को उत्कर कहा गया है।
2. चूर्ण—गेहूं आदि का आटे के रूप में परिवर्तित होना चूर्ण है।
3. खण्ड—घड़े का कपाल के रूप में होना खण्ड है।
4. चूर्णिका—उड़द, अरहर, मूंग आदि का दाल के रूप में खण्ड होना चूर्णिका है।
5. **पतर**—बादल के अलग-अलग पटल का होना पतर भेद है।
6. अनुचटण—गरम लोहे पर चोट करने से जो चिनगारी अलग होकर निकलती है, उसे अनुचटण कहते हैं।

जैनसिद्धान्त दीपिका में पांच भेद किये गये हैं—

1. **'उत्कर: मुद्गशमीभेदवत्'** अर्थात् मूंग आदि पदार्थों की दाल के रूप में दो भागों में विभक्त होना उत्कर है। टूटकर जो ऊंचा उठे, वह भी उत्कर है, जैसे—एरण्ड का बीज टूटकर ऊपर उछलता है।

2. **'चूर्ण: गोधूमचूर्णवत्'** अर्थात् गेहूं आदि जब पिसकर चूर्ण-चूर्ण होकर आटे का रूप ले लेते हैं तो यह चूर्ण भेद कहलाता है।

3. **'खण्ड: लोहखण्डवत्'** अर्थात् लोहे, लकड़ी, पत्थर आदि के टुकड़े-टुकड़े होना खण्ड भेद कहलाता है।

4. **'प्रतर: अभ्रपटलभेदवत्'** अर्थात् तहों या परतों में विभाजन होना प्रतर है, जैसे—प्याज का परत उतारना, अभ्रक के प्रतर आदि।

5. **'अनुतटिका-तटाक रेखावत्'** अर्थात् कांच आदि पदार्थों में दरार पड़ना अनुतटिका है। पानी के अभाव में तालाब की मिट्टी में दरार पड़ने का भेद भी अनुतटिका कहलाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भेद पुद्गल का ही होता है। आत्मा में कभी भेद नहीं होता। कुछ लोग छिपकली की कटी पूंछ को छटपटाते देख यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जीव में भी भेद है जबकि यह भेद भी पौद्गलिक शरीर का है न कि आत्मा का। शुद्ध आत्मा अखण्ड है। विस्तार शुद्ध आत्मा का गुण नहीं है। जहां विस्तार नहीं वहां भेद के लिए कोई गुंजाइश नहीं है, अत: भेद सदैव पुद्गलों का ही होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.4-5 सौक्ष्म्य और स्थौल्य

सूक्ष्मता भी पुद्गल की एक पर्याय है और स्थूलता भी पुद्गल की एक पर्याय है। सूक्ष्मता को छोटापन और स्थूलता को बड़ापन कह सकते हैं। ये दोनों ही पुद्गल के पर्याय हैं। इन्हें दो प्रकार का माना जा सकता है। पहले सूक्ष्मता के दो भेद इस प्रकार हैं— 1. उत्कृष्ट सूक्ष्म या चरम सूक्ष्म, (अन्त्य), 2. आपेक्षिक सूक्ष्म।

1. उत्कृष्ट सूक्ष्म या चरम सूक्ष्म—सूक्ष्मता की वह चरम स्थिति जिसका खण्ड फिर से नहीं किया जा सके वह उत्कृष्ट सूक्ष्म (अन्त्य सूक्ष्म) है। उदाहरण के रूप में **'अन्त्यं परमाणोः'** अर्थात् उत्कृष्ट सूक्ष्म परमाणु है। इससे अधिक सूक्ष्म कोई दूसरा नहीं है। सूक्ष्मता की यह चरम स्थिति है।

2. आपेक्षिक सूक्ष्म—इसमें किसी की अपेक्षा से सूक्ष्मता का आकलन होता है, जैसे —गेहूं के बीज से सरसों का बीज सूक्ष्म है और सरसों के बीज से मिर्च या बैंगन का बीज सूक्ष्म है।

इसी प्रकार स्थूलता के भी दो भेद हैं— 1. उत्कृष्ट स्थूल या चरम स्थूल, 2. आपेक्षिक स्थूल।

1. उत्कृष्ट स्थूल—उत्कृष्टता की चरम स्थिति को उत्कृष्ट स्थूल कहा गया है। इससे स्थूल कोई पुद्गल नहीं हो सकता। **'अन्त्यं अशेषलोकव्यापी महास्कन्धस्य'** अर्थात् सम्पूर्ण लोक में फैला हुआ अचित्त महास्कन्ध ही चरम स्थूल है। इससे बढ़कर कोई दूसरा स्थूल स्कन्ध नहीं है।

2. आपेक्षिक स्थूल— अपेक्षा से स्थूलता को व्यक्त करना ही आपेक्षिक स्थूल है। आम से स्थूल खरबूज और खरबूज से स्थूल तरबूज होता है। अतः खरबूज आम से तो स्थूल है किंतु तरबूज से स्थूल नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में कोई पदार्थ सूक्ष्म है, कोई कम सूक्ष्म है, कोई उससे भी कम सूक्ष्म है। इसी प्रकार कोई स्थूल है, कोई उससे ज्यादा स्थूल है और कोई उससे ज्यादा स्थूल है। सूक्ष्मता और स्थूलता का सम्बन्ध भी पुद्गल से ही है।

4.6 संस्थान

'आकृतिः संस्थानम्' अर्थात् आकार को ही संस्थान कहा जाता है। यह भी पुद्गल की ही अवस्था है। परमाणुओं के संयोग-वियोग से विभिन्न प्रकार की जो आकृति बनती है, उसे संस्थान कहते हैं। हम जितने प्रकार की आकृतियां देखते हैं, वे सारे पौद्गलिक ही हैं। यों तो संस्थान अनेक प्रकार के हो सकते हैं किंतु मुख्य रूप से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है—

1. इत्थं संस्थान-नियत आकार वाला। 2. अनित्थं संस्थान-अनियत आकार वाला।

1. इत्थं संस्थान—जिसका एक निश्चित आकार होता है वह इत्थंस्थ संस्थान है। उसके मुख्य पांच प्रकार हैं—1. वृत्त गोलाकार, 2. त्रिकोणाकार, 3. चतुष्कोण, 4. आयत, 5. परिमण्डल-वलयाकार। उपर्युक्त पांचों भेद निश्चित आकार के हैं अतः ये इत्थं संस्थान है। परिमण्डल और वृत्त दोनों ही गोलाकार हैं फिर भी इनमें अन्तर है वृत्त लड्डू की तरह गोल होता है अर्थात् इसका बीच का भाग सघन होता है और परिमण्डल चूड़ी की तरह गोल होता है अर्थात् इसका बीच का भाग खाली होता है।

2. अनित्थं संस्थान—यह भी पुद्गल का ही एक आकार है किंतु यह निश्चित एवं व्यवस्थित रूप में नहीं होता। अतः इसके विषय में यह इस प्रकार का है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। मेघ आदि के आकार को अनित्थं आकार के अंतर्गत रखा गया है क्योंकि इसका कोई निश्चित आकार नहीं है। निश्चित आकार के अतिरिक्त सभी पौद्गलिक संस्थानों को इसके अंतर्गत रखा जा सकता है।

4.7 तम (अन्धकार)

सर्वार्थ सिद्धि में तम (अन्धकार) को परिभाषित करते हुए लिखा गया है—'तम वस्तुओं के देखने में प्रतिबन्धक कारण है और प्रकाश का विरोधी तत्त्व है।' जैनसिद्धान्तदीपिका के अनुसार—**'कृष्णवर्णबहुलः पुद्गलपरिणामविशेषः तमः'** अर्थात् पुद्गलों का सघन कृष्ण वर्ण के रूप में परिणमन का नाम तम है। यह पुद्गल का ही पर्याय है।

कुछ विचारक प्रकाश के अस्तित्व को स्वतंत्र मानते हैं किंतु वे अंधकार के अस्तित्व को स्वतंत्र नहीं मानते। वे अंधकार को प्रकाश का अभाव मानते हैं। ऐसे विचारक अंधकार के भावात्मक अस्तित्व को न मानकर अभावात्मक मानते हैं। किंतु जैनदर्शन के अनुसार अंधकार अभावात्मक नहीं है अपितु भावात्मक है। जैन दार्शनिकों के मत से प्रकाश का अभाव अंधकार नहीं है क्योंकि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अंधकार प्रत्यक्ष रूप में सबको दिखाई पड़ता है। जो प्रत्यक्ष रूप में सबको दिखाई पड़ता है, उसके स्वतंत्र अस्तित्व को कैसे नकारा जा सकता है। उसका तो अस्तित्व स्वत: सिद्ध है। जब अंधकार का वर्ण सिद्ध है तो स्पर्श, रस और गंध भी सिद्ध है क्योंकि इनमें से किसी एक के होने से सभी होते हैं। इनमें से एक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कहने का तात्पर्य है कि जैसे प्रकाश के वर्ण, स्पर्श, रस और गंध हैं, वैसे ही अंधकार के भी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं। इसलिए प्रकाश के अस्तित्व की तरह अंधकार का भी अस्तित्व है। ये दोनों ही अष्टस्पर्शी पुद्गल हैं। यदि अंधकार का निषेध माना जाये तो उसी आधार पर प्रकाश का भी निषेध माना जा सकता है। अंधकार अवस्तु है तो प्रकाश को भी अवस्तु माना जा सकता है। अत: यह सिद्ध है कि अंधकार भावरूप ही है। विज्ञान भी अंधकार को प्रकाश का अभाव रूप न मानकर स्वतंत्र वस्तु मानता है अत: जैनदर्शन का अंधकार सम्बंधी दृष्टिकोण विज्ञान सम्मत है।

4.8 छाया

छाया (Shadow) भी पुद्गल का ही एक पर्याय है। **'प्रतिबिम्बरूप: पुद्गलपरिणाम: छाया'** अर्थात् जो पुद्गल प्रतिबिम्ब के रूप में बदल जाते हैं, उन्हें छाया कहा जाता है। प्राय: यह देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति धूप में चलता है तो ठीक उसके शरीर के आकार की या छोटी-बड़ी छाया पड़ती रहती है। इसी प्रकार दर्पण के सामने जब कोई व्यक्ति खड़ा होता है तो ठीक उसके शरीर के आकार का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। यह प्रतिबिम्ब पुद्गल ही है।

प्रतिबिम्ब के संदर्भ में एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा — भगवन्! कांच में देखने वाला व्यक्ति क्या कांच को देखता है? अपने शरीर को देखता है? अथवा अपने प्रतिबिम्ब को देखता है?

भगवान् ने कहा — गौतम्! कांच में देखने वाला व्यक्ति न कांच को देखता है, न अपने शरीर को देखता है अपितु वह अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है।

अत: छाया, माया या कल्पना नहीं अपितु ठोस पुद्गल है। यह सच्चाई है कि छाया के अभिव्यक्त होने में उस पदार्थ का बहुत महत्त्व है, जिसमें वह प्रतिबिम्ब होता है। वह पदार्थ जितना स्वच्छ व स्थिर होगा, प्रतिबिम्ब भी उतना ही साफ अभिव्यक्त हो सकेगा। पानी स्वच्छ और स्थिर है तो उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब बहुत साफ उभरता है। परन्तु वही पानी जब गंदा और अस्थिर होता है तो प्रतिबिम्ब साफ नहीं उभरता है।

4.9-10 आतप और उद्योत

आतप और उद्योत दोनों ही पुद्गल की अवस्थाएं हैं।

'सूर्यादीनामुष्ण: प्रकाश आतप:' अर्थात् सूर्य आदि के उष्ण प्रकाश को आतप कहा जाता है।

'चन्द्रादीनामनुष्ण: प्रकाश उद्योत:' अर्थात् चन्द्र आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहा जाता है। ये दोनों ही पुद्गल की परिणति हैं। सूर्य का प्रकाश, आग की ज्योति या लैंप की रोशनी आतप है और चन्द्रमा की चांदनी, जुगनू की धीमी रोशनी आदि को उद्योत कहते हैं। सूर्य, अग्नि आदि के उष्ण प्रकाश में प्रकाश के साथ-साथ ताप किरणें (Heatrays) ज्यादा होती हैं। विज्ञान ने भी यह प्रमाणित किया है कि सूर्य में 35% और लैम्प में 15% प्रकाश रहता है शेष 65% और 85% क्रमश: आतप (उष्णता) रहता है इसीलिए इनके प्रकाश को आतप कहा गया है। इसी प्रकार जुगनू और चन्द्रमा में भी प्रकाश का प्रतिशत कम होता है, शीतलता का प्रतिशत अधिक होता है, इसलिए इन्हें उद्योत के अंतर्गत रखा जाता है।

अत: पुद्गल की उपर्युक्त अवस्थाओं से यह सिद्ध होता है कि मूल द्रव्य के रूप में पुद्गल भले ही एक द्रव्य है किंतु इसकी उपयोगिता एवं उपादेयता बहुत अधिक है। जिधर नजर उठाकर देखें उधर पुद्गल ही पुद्गल नजर आते हैं। यह पुद्गल प्राय: स्कन्ध के रूप में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए हैं। पुद्गल का एक महत्त्वपूर्ण एवं चर्चित अविभाज्य अंश है- परमाणु, जिसकी विवेचना के बिना पुद्गल की विवेचना कभी पूर्ण नहीं हो सकती। अत: परमाणु का विवेचन यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

5.0 परमाणु

जैनदर्शन में द्रव्य संख्या में परमाणु की स्वतंत्र गणना नहीं है। उसे पुद्गल का अंश माना गया है। यहां परमाणु को पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई के रूप में माना गया है। जैनदर्शन का परमाणुवाद सबसे व्यवस्थित एवं मौलिक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.1 परमाणु की मौलिकता

प्राय: यह कहा जाता है कि जैनदर्शन का परमाणुवाद मौलिक नहीं है। यह पाश्चात्य एवं वैशेषिक परमाणुवाद की नकल है। किंतु जब हम पाश्चात्य एवं वैशेषिक परमाणुवाद के वैशिष्ट्य की तुलना जैन परमाणु से करते हैं तो सच्चाई स्वत: सामने आ जाती है। पाश्चात्य परमाणुवाद के जन्मदाता ल्युसिपस और डिमाक्रिटस थे। ल्युसिपस और डिमाक्रिटस के परमाणु की निम्न विशेषताएं जैनदर्शन के परमाणु से मिलती-जुलती है—

1. परमाणु अनन्त हैं।
2. परमाणु सूक्ष्मतम हैं।
3. परमाणु अविभाज्य हैं।
4. परमाणु अप्रत्यक्ष हैं।
5. दो परमाणुओं के मिलने से द्वयणुक, तीन के मिलने से त्रयणुक आदि स्वीकारे गये हैं।
6. परमाणुओं के संघात से संसार की वस्तुएं उत्पन्न हुई है।

उपर्युक्त समानताओं से जहां यह भ्रम होता है कि पाश्चात्य परमाणुवाद से जैनदर्शन का परमाणुवाद प्रभावित है वहीं एक मुख्य अन्तर के कारण इस भ्रम का निराकरण भी हो जाता है। पाश्चात्य परमाणुवाद में परमाणु के संयोग से जहां सृष्टि के समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, वहीं आत्मा की उत्पत्ति भी इसी से मानी गयी है। यदि जैनदर्शन का परमाणुवाद पाश्चात्य परमाणवुाद की नकल होता तो यहां पर भी यह तथ्य स्वीकार होता किंतु यहां ऐसा नहीं है। यहां तो आत्मा को नित्य, शाश्वत द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यह उत्पत्ति और विनाश रहित शाश्वत् द्रव्य है। अत: यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन का परमाणु विचार स्वतंत्र एवं मौलिक है। जैन परमाणुवाद की न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद से तुलना की जाए तो दोनों में अनेक समानताएं मिलती हैं, जो इसप्रकार हैं—

1. दोनों परमाणु को सूक्ष्मतम मानते हैं।
2. दोनों परमाणु को अविभाज्य मानते हैं।
3. दोनों परमाणु को सामान्यतया अपत्यक्ष मानते हैं।
4. दोनों परमाणुओं के संयोग से सृष्टि के अनेक तत्त्वों की उत्पत्ति मानते हैं।
5. दोनों आत्मा को परमाणुओं से स्वतंत्र मानते हैं।

किंतु इतना होने पर भी दोनों में काफी अंतर है, जो इस प्रकार है—

1. जहां न्याय-वैशेषिक चार परमाणु (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) मानते हैं वहां जैनदर्शन में अनन्त परमाणु माने गये हैं।

2. जहां न्यादर्शन में दो परमाणु मिलने से द्वयणुक, तीन द्वयणुक के मिलने से त्रयणुक और चार त्रयणुक के मिलने से चतुरणुक बनता है वहां जैनदर्शन दो परमाणु के मिलने से द्वयणुक, तीन के मिलने से त्रयणुक और चार के मिलने से चतुरणुक को स्वीकार करता है।

3. न्याय-वैशेषिक दर्शन में परमाणुओ में गति के लिए ईश्वर की अपेक्षा महसूस की गयी है जबकि जैनदर्शन में परमाणु को स्वत: गतिशील माना गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद और जैन परमाणुवाद भिन्न-भिन्न हैं। जैनदर्शन का परमाणुवाद किसी की नकल नहीं है अपितु पुरातन परमाणुवाद है। श्वेताम्बर साहित्य में भगवतीसूत्र, स्थानांगसूत्र, पण्णवणा, तत्त्वार्थसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य) आदि में तथा दिगम्बर साहित्य में षटखण्डागम (धवला टीका), गोम्मटसार, बृहद्द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय सार, तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि में परमाणुवाद का विस्तृत विवेचन है। अत: यह सिद्ध है कि जैन परमाणुवाद सर्वथा मौलिक है।

5.2 जैन परमाणु का स्वरूप

जैन परिभाषा के अनुसार पुद्गल का सूक्ष्मतम अंश परमाणु कहलाता है। वह अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और अविभाज्य होता है। यह पुद्गल की सबसे छोटी इकाई है। यह निरवयव एवं निर्विभागी है। इसका आदि, अंत और मध्य भाग नहीं है। उसमें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एक वर्ण,एक गंध, एक रस और दो स्पर्श पाये जाते हैं। परमाणु में वर्णादि गुण है, फिर भी हम उसे देख नहीं सकते, परन्तु उसके कार्य को देखते हैं। परमाणु के कार्य से हमें परमाणु की उपस्थिति का अनुभव होता है। यह सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। लोकाकाश का एक भी ऐसा प्रदेश नहीं है, जहां पर परमाणु का अस्तित्व न हो। अर्थात् सम्पूर्ण लोक में परमाणु फैले हुए हैं। जीव जहां स्थित है, गति करता है, वह वहीं से अपने राग-द्वेषात्मक परिणामों के कारण कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है। यदि परमाणु या पुद्गल लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त न हो, किसी स्थान विशेष में ही हों, तो अन्य स्थान पर स्थित आत्मा कार्मणवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण नहीं कर सकेगा।

5.3 परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि परमाणु अमूर्त्त है। परमाणु मूर्त्त होते हुए भी इन्द्रियग्राह्य नहीं है क्योंकि वह सूक्ष्म है। उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता। उसे तो पारमार्थिक प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति उसे नहीं जान सकता। विशिष्ट अवधिज्ञानी (रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला व्यक्ति) उसे जान सकता है। अकेवली यानि छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी परमाणु को जान भी सकता है और नहीं भी। केवल ज्ञानी तो सब कुछ जानता है चाहे वह मूर्त्त पदार्थ हो या अमूर्त्त। अतः केवली तो जानता ही है। अतः स्पष्ट है कि परमाणु हमारी इन्द्रियों का विषय नही है।

5.4 जैन परमाणु और विज्ञान के परमाणु

जैनदर्शन 'परमाणु' उसे मानता है जिसका फिर से विभाजन न हो सके अर्थात् अविभाज्य अंश परमाणु है। विज्ञान भी अणु (Atom) को मानता है। विज्ञान का अणु जैनदर्शन के परमाणु से भिन्न है। क्योंकि विज्ञान जिसे अणु मानता है उसका विभाजन होता है। यह प्रोटोन और इलेक्ट्रोन में विभक्त होता है। इस प्रकार विज्ञान की मान्यता के अनुसार 'एटम' के टुकड़े किये जा सकते हैं, उसे तोड़ा जा सकता है और उसी मूल तत्त्व से अन्य सभी पदार्थ बनते हैं, इसलिए मूल तत्त्व केवल अणु ही है। जैन आगम अनुयोगद्वार में दो प्रकार के परमाणु का उल्लेख मिलता है— 1. नैश्चयिक (या सूक्ष्मतम) परमाणु 2. व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्मतम परमाणु जैनदर्शन का मूल परमाणु है, जो अविभाज्य है किंतु व्यावहारिक परमाणु अनन्त परमाणुओं के समुदाय से बनता है। वस्तुतः वह स्वयं परमाणु पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नहीं जा सकता इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन दृष्टि को भी स्वीकार है। अतः यहां यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जैनदर्शन का मूल परमाणु अविभाज्य है जबकि विज्ञान का एटम विभाज्य है।

5.5 परमाणु मिलन के नियम

जैनदर्शन में स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं बनता है। जैन सिद्धान्त दीपिका के अनुसार -**स्निग्धरूक्षत्वाद् अजघन्य गुणानाम्** स्निग्ध और रूक्ष अजघन्य गुण वाले परमाणुओं का परस्पर एकत्व जब होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रूक्षत्व है। स्निग्धत्व और रूक्षत्व को वैज्ञानिक भाषा में पोजिटिव और निगेटिव विद्युत कहा जाता है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—**'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः'** अर्थात् स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणों के कारण अणु एक सूत्र में बंधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि टीका में एक स्थान पर लिखा है— **'स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युत्'** अर्थात् बादलों में स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण विद्युत की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हैं।गुण यानि अंश एवं अजघन्य यानि दो या दो अधिक गुण वाले स्निग्ध परमाणु।

बोध प्रश्न

वैशेषिक दर्शन में कितने परमाणु माने गये है।

6.0 जीव और पुद्गल का सम्बन्ध

जीव और अजीव तत्त्व को मानने के कारण जैनदर्शन को द्वैतवादी कहा जाता है। द्वैतवाद वहां होता है, जहां दो स्वतंत्र, निरपेक्ष, शाश्वत् सत्ता की स्वीकृति होती है। सांख्य दर्शन द्वैतवादी है क्योंकि वहां प्रकृति और पुरुष को इसी रूप में स्वीकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किया गया है।पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट द्वैतवादी है क्योंकि वह निरपेक्ष द्रव्य और सापेक्ष द्रव्य का द्वैत स्वीकार करता है तथा चित् और अचित् को पृथक्-पृथक् मानता है। इसी प्रकार जैनदर्शन भी द्वैतवादी है क्योंकि यहां भले ही छः द्रव्य हैं किंतु इन्हें जीव और अजीव में ही विभक्त किया जाता है। तत्त्व व्यवस्था में भी यहां जीव और अजीव को ही मूल माना गया है। द्रव्य व्यवस्था में जीव और पुद्गल ये सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। 'चेतना लक्षणो जीवः' कहकर जहां जीव का प्रमुख लक्षण चेतना माना गया है वहीं पुद्गल को जड़ एवं अचेतन कहा गया है। ये दोनों परस्पर पृथक् हैं—

जीव	पुद्गल
1. चेतन	1. अचेतन
2. अभौतिक	2. भौतिक
3. भोक्ता	3. भोग्य
4. अमूर्त्त	4. मूर्त्त
5. निरवयव	5. सावयव

जब जीव और पुद्गल एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं तो एक प्रश्न यह उठता है कि फिर दोनों में सम्बन्ध कैसे होता है? एक चेतन और दूसरा अचेतन आपस में कैसे मिल सकते हैं? पूर्णतया विरोधी तत्त्व आपस में सहयोगी कैसे हो सकते हैं? दो तत्त्वों के सम्बन्ध की समस्या हर द्वैतवादी दार्शनिकों की समस्या रही है। सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को लेकर समस्या है। सांख्य दार्शनिक इस समस्या के समाधान के लिए संयोग सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए कहते हैं—

''पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थंच प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः तत्कृतः सर्गः।।''

अर्थात् प्रकृति अपने स्वरूप को प्रकट करना चाहती है और पुरुष मुक्त होना चाहता है, दोनों अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंधे और लंगड़े की तरह आपस में मिलते हैं तो सृष्टि की उत्पत्ति होती है। किंतु यह सम्बन्ध उपयुक्त नहीं माना जाता क्योंकि जिस दृष्टान्त से इस सम्बन्ध को पुष्ट किया गया है, वह दृष्टान्त उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है क्योंकि दृष्टान्त में दोनों (अंधे और लंगड़े) चेतन हैं जबकि दृष्टान्त में एक जड़ (प्रकृति) और दूसरा चेतन (पुरुष) है। अतः सम्बन्ध की समस्या सांख्य की जटिल समस्या रही है।

डेकार्ट ने भी आत्मा और शरीर को विरोधी मानकर क्रिया-प्रतिक्रियावाद के सम्बन्ध के आधार पर आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को समझाया है। किंतु क्रिया-प्रतिक्रियावाद के सम्बन्ध में अनेक कठिनाईयां दिखाई पड़ती हैं, जिसमें प्रमुख है कि आत्मा की क्रिया से जड़ शरीर प्रतिक्रिया के लिए क्यों प्रेरित होगा? शरीर की क्रिया का आत्मा से क्या सम्बन्ध है जिससे कि आत्मा प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित होगा।

जैनदर्शन के अनुसार सम्बन्ध

जैनदर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल या आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में किसी प्रकार की समस्या नहीं है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने एक उदाहरण के द्वारा जीव और पुद्गल के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। तालाब में पानी है। उसमें सैकड़ों छिद्र वाली नौका है। जिस प्रकार वह नौका पानी से भर जाती है, वैसे ही जीव के छिद्र आस्रव हैं, कर्मरूपी पानी उन आस्रव रूपी छिद्रों से भर जाता है। अर्थात् राग-द्वेष युक्त आत्मा के कर्म बंधते हैं। कहा भी गया है—

''स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येव।।''

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध होता है। अन्य दर्शनों में इन्हें आपस में बिल्कुल विरोधी मानकर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं जबकि जैनदर्शन में इन्हें बिल्कुल विरोधी नहीं माना गया है। अतः जैनदार्शनिक के समक्ष सम्बन्ध की समस्या नहीं है। इनके अनुसार जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त जीव एवं संसारी जीव। मुक्त जीव सर्वथा अमूर्त्त हैं अतः उसका मूर्त्त शरीर से कभी सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है। संसारी जीव मूर्त्त होता है। संसार में जीव और पुद्गल का सादृश्य है। अतः उनका सम्बन्ध होना असंभव नहीं है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय स्थूल शरीर तो छूट जाता है किंतु सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। यही सूक्ष्म शरीर युक्त जीव ही दूसरा शरीर धारण करता है अत: दूसरे शरीर से सम्बंधित होता है। इस प्रकार यह सम्बंध तब तक चलता रहता है जब तक कि जीव पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाता है। अत:यह कहना उचित है कि आत्मा और शरीर में सर्वथा अभेद नहीं है, यदि सर्वथा अभेद होता तो दोनों एक हो जाते। इनमें सर्वथा भेद भी नहीं है। सर्वथा भेद होने से ये कभी भी नहीं मिल सकते थे। अत: अपने विशेष गुणों के कारण इनमें परस्पर भेद भी है और सामान्य गुणों के कारण परस्पर अभेद भी है। अत: आत्मा और शरीर में भिन्नता और अभिन्नता दोनों हैं। अत: हम यह कह सकते हैं कि संसारी अवस्था में आत्मा और शरीर दोनों मूर्त्त हैं। आत्मा का शरीर से सम्बंध होने का तात्पर्य मूर्त्त का मूर्त्त से सम्बंध है न कि अमूर्त्त का मूर्त्त से। संसारावस्था में आत्मा का क्षीर-नीरवत् या अग्निलौहपिण्डवत् तादात्म्य होता है। जैनदर्शन इस सम्बंध को अनादि मानता है। जीव और शरीर का सम्बंध यहां प्रारंभ से माना गया है। इसकी कोई आदि नहीं है किंतु अन्त है। जब सूक्ष्म शरीर भी आत्मा से अलग हो जाता है तो जीव शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

सारांश–

अस्तु हम यह कह सकते है कि संसार में जितना सत्य चेतन तत्त्व है उतना ही सत्य अचेतन तत्त्व है। जिधर चित्त डाले उधर अचेतन तत्त्व दृष्टिगोचर होते है। जैन दर्शन में इन्हें ही पुद्गल मानकर विस्तृत मीमांसा की गयी है। उपर्युक्त मीमांसा से पुद्गल के अर्थ, प्रकार, परमाणु के स्वरूप एवं जीव तथा पुद्गल के सम्बन्ध को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

अभ्यास के प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. पुद्गल के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी अवस्थाओं पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. परमाणु के स्कन्ध को स्पष्ट कीजिए।
2. पुद्गल के प्रकारों की व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अचित्त महास्कन्ध किसे कहते हैं?
2. पुद्गल का शाब्दिक अर्थ क्या है?
3. पुद्गल को चेतन कौन मानता है?
4. विज्ञान के परमाणु और जैन परमाणु में क्या अंतर है?
5. पाश्चात्य परमाणुवादियों के नाम बताइये।
6. नैयायिक एवं वैशेषिक के त्र्यणुक और जैन के त्रयणुक में क्या अंतर है?
7. जैन परमाणु स्वत: गतिशील हैं या अगतिशील?
8. संस्थान के कितने प्रकार हैं?
9. जैनदर्शन के अनुसार परमाणुओं के संघात का क्या कारण है?
10. वर्गणा से क्या तात्पर्य है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग : 5

प्राण, पर्याप्ति, लेश्या और इन्द्रिय

संरचना

उद्देश्य

प्रस्तावना

1.0 पर्याप्ति

- 1.1 पर्याप्ति का अर्थ
- 1.2 पर्याप्ति के भेद
- 1.3 छहों पर्याप्तियों के दृष्टांत
- 1.4 पर्याप्तियों के आरम्भ एवं पूर्णता का क्रम
- 1.5 जीव की पर्याप्तियां
- 1.6 पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक

बोध प्रश्न

2.0 प्राण

- 2.1 प्राण का लक्षण
- 2.2 प्राण के भेद
- 2.3 प्राण के दस भेद
- 2.4 प्राण और पर्याप्ति के सम्बन्ध
- 2.5 जीव और प्राण का सम्बन्ध

बोध प्रश्न

3.0 लेश्या

- 3.1 कषाय-योग रंजित लेश्या
- 3.2 लेश्या के भेद
- 3.3 लेश्या के प्रकार
- 3.4 लेश्या की स्थिति
- 3.5 लेश्या की गति
- 3.6 लेश्या का परिणाम

बोध प्रश्न

4.0 जैन दर्शन में इन्द्रिय स्वरूप

- 4.1 इन्द्रियों की व्युत्पत्ति एवं उनका स्वरूप
- 4.2 द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय
- 4.3 द्रव्येन्द्रिय के भेद
- 4.4 भावेन्द्रिय के लक्षण
- 4.5 इन्द्रियों का क्रम
- 4.6 इन्द्रियों में प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

सारांश

अभ्यास के प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उद्देश्य– इस इकाई का अध्ययन करने से हम-

1. पर्याप्ति का अर्थ, स्वरूप एवं भेद का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे
2. प्राण के लक्षण एवं भेद की जानकारी कर सकेंगे।
3. प्राण एवं पर्याप्ति के सम्बन्ध को जान सकेंगे।
4. लेश्या के अर्थ, लक्षण, भेद, स्थिति, गति एवं परिणाम को समझ सकेंगे।
5. इन्द्रिय के स्वरूप एवं भेद का ज्ञान कर सकेंगे।

प्रस्तावना

संसारी जीव का अपना महत्त्व है। जीव के साथ प्राण एवं पर्याप्ति का सम्बन्ध है। इन्द्रियों के अभाव में संसारी जीव भला क्या कर सकता है? संसार का रंग निराला है। इस निरालेपन को समझने के लिए लेश्या का ज्ञान आवश्यक है। जैसी लेश्या, वैसा जीवन। प्रशस्त लेश्या है तो जीवन प्रशस्त है। अप्रशस्त लेश्या तो जीवन अप्रशस्त है। प्रस्तुत इकाई में जैन दर्शन के अनुरूप प्राण, पर्याप्ति, लेश्या एवं इन्द्रियों का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

1.0 पर्याप्ति

संसारी जीव अपने कर्मों के कारण अनेक योनियों में भ्रमण करता रहता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि वह मुक्त नहीं हो जाता। जैनदर्शन के अनुसार शुद्ध जीव अमूर्त्त है किंतु संसारी जीव कथंचित मूर्त्त कहलाता है। संसारी जीव जब पैदा होता है और संसार में जब तक रहता है तब तक उसे किसी सशक्त आलम्बन की आवश्यकता रहती है। संसारी प्राणी को जिस पुष्ट आलम्बन की जरूरत होती है वे हैं — प्राण और पर्याप्ति।

1.1 पर्याप्ति का अर्थ

जैन सिद्धान्त दीपिका में पर्याप्ति को परिभाषित करते हुए कहा गया है-**'भवारम्भे-पौद्गलिकसामर्थ्य' निर्माणं पर्याप्तिः**-जन्म के प्रारम्भ में जिस पौद्गलिक शक्ति का निर्माण होता है उसे पर्याप्ति कहते हैं। व्युत्पत्ति के आधार पर **'परि-समन्तात् अप्ति-पर्याप्तिः शक्तिनिष्पत्तिरित्यर्थः'** अर्थात् चारो तरफ से प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं।आचार्य महाप्रज्ञ ने "जीव-अजीव" मे बताया है कि पर्याप्ति का अर्थ है जीवनोपयोगी पौद्गलिक शक्ति के निर्माण की पूर्णता। जब जीव एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब भावी जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए अपने नवीन जन्म-क्षेत्र में एक साथ आवश्यक पौद्गलिक सामग्री का निर्माण करता है।इसे या इससे उत्पन्न होने वाली शक्ति -पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते है।

1.2 पर्याप्ति के भेद

जैनदर्शन में पर्याप्ति के छः भेद माने गये हैं। भगवती सूत्र में (3/1/17/ में) छः भेदों का उल्लेख हुआ है।

'आहार-सरीरिंदिय, पज्जत्ती आणपाण-भास-मणो' अर्थात् पर्याप्ति छः हैं —

1. आहार पर्याप्ति,	2. शरीर पर्याप्ति,	3. इन्द्रिय पर्याप्ति,
4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति,	5. भाषा पर्याप्ति,	6. मन पर्याप्ति।

1. आहार पर्याप्ति — "आहारप्रायोग्यपुद्गलग्रहणपरिणमनोत्सर्गरूपं पौद्गलिकसामर्थ्योत्पादनम् आहारपर्याप्तिः" (जैन सिद्धान्त दीपिका 3/11) छह पर्याप्तियों में आहार पर्याप्ति का बंध सबसे पहले होता है। इस पर्याप्ति के द्वारा जीव जीवनभर आहार योग्य पुद्गलों के ग्रहण, परिणमन और विसर्जन करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। संसार में रहने वाले किसी भी जीव के जीवन का आधार आहार होता है। जब तक आहार का आधार बना रहता है तब तक जीव जीवित रहता है। इस आधार के छूटते ही संसारी जीव की मृत्यु हो जाती है। सामान्यतया लोग कवल आहार (मुंह से ग्रहण होने वाले आहार) को ही आहार मानते हैं। कवल आहार का हमारे जीवन में विशेष महत्त्व है लेकिन हमारा जीवन कवल आहार पर ही टिका हुआ हो ऐसा नहीं है। हमें ऐसे कई व्यक्ति देखने को मिलते हैं जो महीनों तक मुंह से आहार नहीं लेते फिर भी जीवित रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कवल आहार के अतिरिक्त भी आहार है जो जीव के जीवन का आधार बनते हैं। जैनदर्शन में आहार के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है —

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. ओज आहार—जीव पैदा होते ही प्रथम समय में कार्मण योग के द्वारा जो आहार ग्रहण करता है, उसे ओज आहार कहा गया है। जीव उत्पन्न होते समय अपने लिए आवश्यक पुद्गलों को अपनी ओर खींच लेता है। प्रथम क्षण में वह जितने पुद्गल खींचता है, ग्रहण करता है उन सबको आत्मसात् कर लेता है। दूसरे क्षण वह फिर पुद्गलों को ग्रहण करता है पर उसके साथ कुछ पुद्गलों को छोड़ देता है। ग्रहण और विसर्जन (छोड़ने) का यह क्रम जीवन भर चलता रहता है। आचार्यश्री तुलसी ने जैन तत्त्वविद्या भाग दो में इसे एक दृष्टान्त के द्वारा समझाते हुए लिखा है—'उबलते हुए घी या तेल में कोई पूआ छोड़ा जाता है तो वह एक साथ उस घी या तेल को अपने भीतर समेट लेता है। दूसरे क्षण वह घी या तेल को सोखता है तो छोड़ता भी है। ग्रहण करने और छोड़ने का यह क्रम चलता रहता है।'

यहां ध्यातव्य यह है कि प्रथम समय में ग्रहण किया गया ओज आहार जब तक रहता है, तभी तक जीवन भी बना रहता है। इस आहार के चुक जाने पर अन्य आहार जीवन को टिकाये नहीं रख सकते ओज आहार के क्षीण हो जाने पर रोम आहार और कवल आहार की कोई उपयोगिता नहीं रहती है।

2. रोम आहार—स्पर्श इन्द्रिय द्वारा जो पुद्गल समूह ग्रहण किया जाता है वह है रोम आहार। ओज आहार ग्रहण करने के बाद शरीर निर्मित होता है। उसके अवयवों के विकास होने के बाद गर्भावस्था में ही रोम आहार शुरू हो जाता है। यह आहार भी जीवनपर्यन्त चलता रहता है।

दिन-रात, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते हर क्षण रोम आहार का ग्रहण होता है और इससे भी जीवन धारण में पूरा सहयोग मिलता है।

3. कवल आहार—वह आहार जो मुख से अथवा बाह्य साधनों से शरीर में प्रक्षिप्त किया जाता है, कवल आहार कहलाता है। यह आहार भी जीवन को सामान्य ढंग से संचालित करने के लिए उपयोगी हैं किंतु यह कहना उपयुक्त नहीं है कि इसके बिना जीवन नहीं चल सकता। तपस्वी महीनों बिना कवल आहार के तपस्या करते हैं। मुंह से ग्रहण करने वाले सारे पदार्थ इस आहार के अंतर्गत आ जाते हैं। जो कुछ हम खाते हैं, जो कुछ हम पीते हैं और जो कुछ हम चाटते हैं अर्थात् खाद्य, पेय एवं लेह्य (चाटने) से संबन्धित सारे पदार्थ इस आहार के अंतर्गत आ जाते हैं। यह आहार भी तभी तक उपयोगी हैं जब तक शरीर को ओज आहार का पोषण मिलता रहता है। ओज आहार समाप्त होने के बाद यह आहार जीवन को धारण करने में सक्षम नहीं है।

2. शरीर पर्याप्ति— "शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणपरिणमनोत्सर्गरुपं पौद्गलिकसामर्थ्योत्पादनम् शरीरपर्याप्तिः।" शरीर के योग्य पुद्गलों की, शरीर के अंगोपांगों की रचना करने वाली क्रिया जिस पुद्गल-समूह से सम्भव होती है, उसे शरीर पर्याप्ति कहते है।

3. इन्द्रियपर्याप्ति—जिस पर्याप्ति के द्वारा आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा-इन इन्द्रियों के निर्माण का कार्य संपन्न होता हो, उसे इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। इन्द्रियां ज्ञान करने के साधन हैं, इसलिए ये ग्राहक है। इनके ग्राह्य तत्त्व विषय कहलाते हैं। इन्द्रियां पांच हैं—आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा। इनके विषय भी पांच हैं—रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श।

पांच इन्द्रियों के विषयों का विस्तार करें तो इनकी संख्या तेईस हो जाती है। यहां प्रसंगवश पांचों इन्द्रियों के विषयों का भी उल्लेख किया जा रहा है।

चक्षु इन्द्रिय के पांच विषय हैं— 1. कृष्ण, 2. नील, 3. रक्त, 4. पीत, 5. श्वेत।
कर्णेन्द्रिय (कान) के तीन विषय हैं— 1. जीव शब्द, 2. अजीव शब्द, 3. मिश्र
घ्राणेन्द्रिय (नाक) के दो विषय हैं— 1. सुगंध, 2. दुर्गंध।
रसनेन्द्रिय (जिह्वा) के पांच विषय हैं— 1. तिक्त, 2. कटु, 3. कषाय, 4. अम्ल, 5. मधुर
स्पर्शनिन्द्रिय (त्वचा) के आठ विषय हैं—1. शीत,2. उष्ण, 3. स्निग्ध, 4. रूक्ष, 5. कर्कश, 6. मृदु, 7. गुरू, 8. लघु।

यद्यपि इन्द्रियां पौद्गलिक है फिर भी बाह्य पदार्थों के ज्ञान के लिए इन्द्रियों का विशेष महत्त्व है।

4.श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति— उच्छ्वासनिःश्वासप्रायोग्यपुद्गलग्रहणपरिणमनोत्सर्गरूपं पौद्गलिक सामर्थ्योत्पादनम् श्वासोच्छवासपर्याप्तिः। उच्छ्वास और निःश्वास रूप शक्ति की पूर्णता के निमित्तभूत पुद्गल समूह की प्राप्ति को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। इस पर्याप्ति के द्वारा श्वास उच्छ्वास योग्य पुद्गल छोड़ने व ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त होती है। चूंकि जीवन धारण में प्राणवायु लेना और छोड़ना अत्यन्त आवश्यक होता है। अतः इस पर्याप्ति का भी अपना विशेष महत्त्व है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)-Ladnun

5. भाषा पर्याप्ति — भाषाप्रायोग्यपुद्गलग्रहणपरिणमनोत्सर्गरूपं पौद्गलिकसामर्थ्योत्पादनम् भाषापर्याप्तिः। नाम कर्म के उदय से भाषा वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्धों का सत्य, असत्य, उभय, अनुभय भाषा के रूप में परिणमन करने की शक्ति की जो निष्पत्ति है वही भाषा पर्याप्ति है। इस पर्याप्ति के द्वारा भाषा योग्य पुद्गलों का ग्रहण और उत्सर्जन होता है।

6. मन: पर्याप्ति — मन:प्रयोग्य-पुद्गलग्रहण-परिणमनोत्सर्गरूपं-पौद्गलिक सामर्थ्योत्पादनम् मन: पर्याप्ति:- मन के योग्य पुद्गलों का ग्रहण परिणमन और उत्सर्ग करने वाले पौद्गलिक शक्ति के निर्माण को मन: पर्याप्ति कहते है। अनुभूत अर्थ के स्मरण रूप शक्ति के निमित्तभूत मनोवर्गणा के स्कन्धों से निष्पन्न पुद्गल समूह को मन:पर्याप्ति कहते हैं। अथवा द्रव्यमन के आलम्बन से अनुभूत अर्थ के स्मरण रूप शक्ति की उत्पत्ति को मन: पर्याप्ति कहते हैं। यह पर्याप्ति मनन योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने और छोड़ने में जीव का सहयोग करती है।

1.3 छहों पर्याप्तियों के दृष्टान्त

छहों पर्याप्तियों को मकान के दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

एक मकान निर्माता मकान बनाने की योजना क्रियान्वित करते समय पत्थर, चूना, सीमेंट, काठ आदि समस्त सामग्री एकत्रित करता है। इसी तरह सब प्रकार की पौद्गलिक सामग्री के संचयन का काम आहार पर्याप्ति का है।

मकान निर्माता अपनी संग्रहीत सामग्री का वर्गीकरण करता है — अमुक पत्थर दीवार के काम आयेगा, अमुक काष्ठ कपाट के काम आयेगा। इसी प्रकार शरीर के अंगोपांगों के वर्गीकरण का काम शरीर पर्याप्ति का है।

मकान बनाते समय उसमें हवा, प्रकाश आदि के प्रवेश, निर्गमन हेतु तथा आने-जाने के लिए द्वार, खिड़कियां आदि बनाई जाती हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा पर्याप्ति होती है।

मकान बनाने के बाद व्यक्ति आवश्यकता और समय के अनुसार उसका उपयोग करता है। हवा रहित कमरों का उपयोग सर्दी में करता है और हवादार कमरों को गर्मी में काम लेता है। यह काम मन: पर्याप्ति का है। हेय (छोड़ने योग्य) वस्तुओं का परित्याग और उपादेय (ग्रहण योग्य) वस्तुओं के स्वीकार का ज्ञान भी मन: पर्याप्ति में ही होता है। कब क्या करना है? कैसे करना है? आदि चिंतन-मनन की समूची शक्ति मन:पर्याप्ति सापेक्ष है।

1.4 पर्याप्तियों के आरंभ और पूर्णता का क्रम

छहों पर्याप्तियों का आरंभ तो जन्म के समय एक साथ ही होता है किंतु उनकी पूर्णता क्रम से होती है। इसीलिए पर्याप्तियों के क्रम का नियम रखा गया है। सब पर्याप्तियों के पूर्ण होने का काल अन्तर्मुहूर्त्त है परंतु पूर्णता क्रम से होती है।आहार पर्याप्ति को पूर्ण होने में एक समय और शरीर पर्याप्ति आदि पांचों में से प्रत्येक को क्रमश: अन्तर्मुहूर्त्त (दो समय से 48 मिनट) लगता है।

1.5 जीव की पर्याप्तियां

किस जीव के कितनी पर्याप्ति होती हैं, इसका भी विवेचन जैनदर्शन में सम्यक् रूप से हुआ है। एकेन्द्रिय जीवों के भाषा और मन को छोड़कर शेष चार पर्याप्तियां (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास) होती हैं। द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन: पर्याप्ति को छोड़ शेष पांच पर्याप्तियां होती हैं। देवों के मन व भाषा में भेद नहीं होता इस दृष्टि से इनके पांच तथा शेष संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छहों पर्याप्तियां होती है।

1.6 पर्याप्तक और अपर्याप्तक

सामान्यतया पर्याप्त का अर्थ होता है- पूर्ण और अपर्याप्त का अर्थ है- अपूर्ण। यहां इनका संबंध पर्याप्तियों की पूर्णता और अपूर्णता से है। प्रत्येक जीव प्रारंभ में अपर्याप्त होता है। जिस जन्म में जितनी पर्याप्ति प्राप्त करनी है उन्हें पूरा कर लेने के बाद जीव पर्याप्त कहलाता है। अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर पाता वह अपर्याप्त कहलाता है।

यहां ज्ञातव्य है कि आहार, शरीर और इन्द्रिय -इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किए बिना कोई भी प्राणी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार यहां पर्याप्ति के स्वरूप, लक्षण, प्रकार आदि का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्न

असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में कितनी पर्याप्तियां होती है।

2.0 प्राण

जिसके संयोग से जीव जीवन अवस्था को प्राप्त होता है और वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त होता है उसे प्राण कहते है। अत: जीवन के लिए प्राण आवश्यक है क्योंकि प्राणों के आधार पर ही जीव जीवित रहता है।

2.1 प्राण का लक्षण

प्राण का अर्थ है जीवनी शक्ति। इस शक्ति का सीधा सम्बंध जीव से है, फिर भी यह पौद्गलिक शक्ति सापेक्ष है। इसीलिए प्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'पर्याप्त्यपेक्षिणो जीवनशक्ति: प्राणा:'** अत: स्पष्ट है कि जीवन धारण करने में प्राण शक्ति का उपयोग होता है। यह शक्ति तब प्राप्त होती है, जब जीव जन्म धारण करने के बाद पर्याप्तियां बांध लेता है। इसी दृष्टि से पर्याप्ति की अपेक्षा से जीवन शक्ति को प्राण माना गया है।

2.2 प्राण के भेद

एक दृष्टि से प्राण के दो भेद किये जाते हैं— 1. द्रव्य प्राण या व्यवहार प्राण, 2. भाव प्राण या निश्चय प्राण।

1. द्रव्य प्राण या व्यवहार प्राण—**'पुद्गल सामान्यान्वयिना द्रव्यप्राण:'** अर्थात् पुद्गल सामान्य रूप अन्वय वाले हैं वे द्रव्यप्राण हैं। गोम्मटसारजीवकाण्ड टीका में उल्लेख है—**'पौद्गलिक द्रव्येन्द्रिया- दिव्यापाररूपा: द्रव्यप्राणा:'** अर्थात् पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न हुए इन्द्रियादि की प्रवृत्ति को द्रव्य प्राण (व्यवहार प्राण) कहते हैं।

2. भावप्राण या निश्चय प्राण—पंचास्तिकाय टीका में भावप्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'इन्द्रिय बलायुरूच्छ्वासलक्षणा हि प्राणा:। तेषु चित्सामान्यान्वायिनो भावप्राणा:'** अर्थात् प्राण, इन्द्रिय, बल, आयु तथा उच्छ्वास रूप हैं। उनमें (प्राणों में) जो चित् सामान्य रूप है वह भाव प्राण है। अर्थात् आत्मा की जिस शक्ति के निमित्त से इन्द्रियादि अपने कार्य में प्रवृत्त हों, उसे भावप्राण या निश्चयप्राण कहते हैं।

2.3 प्राण के दस भेद

प्राण संख्या में दस माने गये हैं। दूसरी दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि द्रव्य प्राण के दस भेद हैं। गोम्मटसारजीवकाण्ड में प्राण के दस भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

''पंच वि इंदियपाणा, मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणापाणप्पाणा, आउगपाणेण होंति दस पाणा।''

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पांच इन्द्रिय प्राण हैं, मनोबल, वचनबल तथा कायबल ये तीन बल प्राण हैं, एक श्वासोच्छ्वास तथा एक आयु इस प्रकार ये दस प्राण हैं। अत: प्राण के दस प्रकार निम्नलिखित हैं—

1. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, 2. चक्षुरिन्द्रिय प्राण, 3. घ्राणेन्द्रिय प्राण, 4. रसनेन्द्रिय प्राण,
5. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, 6. मनोबल प्राण, 7. वचनबल प्राण, 8. कायबल प्राण,
9. श्वासोच्छ्वास प्राण, 10. आयुष्य प्राण।

2.4 प्राण और पर्याप्ति का सम्बन्ध

जैन सिद्धान्त दीपिका में बताया गया है-**"पर्याप्तीनां प्राणानां च योग एव जीवनं तेषां वियोगश्च मृत्यु:"**- पर्याप्तियों और प्राणों का योग ही जीवन है उनका वियोग मृत्यु है। श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण का सम्बन्ध इन्द्रिय पर्याप्ति से है। मनबल, वचनबल, कायबल का सम्बन्ध मन: पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति एवं शरीर पर्याप्ति से है। श्वोसोच्छ्वास प्राण श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से सम्बंधित है। आयुष्यप्राण का सम्बन्ध आहार पर्याप्ति से है। जब तक ओज आहार रहता है, तब तक आयुष्य बल के आधार पर प्राणी जीवित रहता है। ओज आहार की समाप्ति आयुष्य की समाप्ति है। आयुष्य बल क्षीण होते ही प्राणी की मृत्यु हो जाती है। ये प्राण पूर्व में कहे गये पर्याप्तियों के कार्य रूप हैं अर्थात् प्राण और पर्याप्ति में कार्य और कारण का संबंध है। पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.5 जीव और प्राण का सम्बंध

संसार में रहने वाले सभी प्राणी सप्राण-प्राण सहित होते है लेकिन प्राणों की संख्या सबमें समान नहीं होती।

1. एक इन्द्रिय वाले पृथ्वीकायिक आदि जीवों के चार प्राण होते है-

   1. स्पर्शन इन्द्रिय 2. कायबल प्राण 3. श्वासोच्छ्वास प्राण और 4. आयुष्य प्राण।

2. दो इन्द्रिय वाले जीवों में छह प्राण होते है- 1. स्पर्शन इन्द्रिय प्राण 2. रसनेन्द्रिय प्राण 3. कायबल प्राण 4. वचनबल प्राण 5. श्वासोच्छ्वास प्राण और 6. आयुष्य प्राण।

3. तीन इन्द्रिय वाले जीवों में सात प्राण होते है- 1. स्पर्शन इन्द्रिय प्राण 2. रसनेन्द्रिय प्राण 3. घ्राणेन्द्रिय प्राण 4. कायबल प्राण 5. वचन बल प्राण 6. श्वासोच्छ्वास प्राण और 7. आयुष्य प्राण।

4. चार इन्द्रिय वाले जीवों में आठ प्राण होते है- 1.स्पर्शन इन्द्रिय प्राण 2. रसनेन्द्रिय प्राण 3. घ्राणेन्द्रिय प्राण 4. चक्षु इन्द्रिय प्राण।

5. असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में मनोबल प्राण को छोड़कर नौ प्राण पाए जाते है।

6. संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में दसों ही प्राण होते है। उपर्युक्त सारा वर्णन पर्याप्त जीवों की अपेक्षा से है। अपर्याप्त अवस्था में इनकी संख्या में अन्तर आ जाता है।

1. एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों में तीन प्राण होते है-1.स्पर्शन इन्द्रिय प्राण 2. कायबल प्राण 3. आयुष्य प्राण।

2. द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीवों मे चार प्राण होते है- 1. स्पर्शन इन्द्रिय प्राण 2. रसनेन्द्रिय प्राण 3. कायबल प्राण 4. आयुष्य प्राण।

3. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त जीवों में पांच प्राण होते है-1. स्पर्शन इन्द्रिय प्राण 2. रसनेन्द्रिय प्राण 3. घ्राणेन्द्रिय प्राण 4. कायबल प्राण 5. आयुष्य प्राण।

4. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के छह प्राण होते है-1.स्पर्शन इन्द्रिय प्राण 2. रसनेन्द्रिय प्राण 3. घ्राणेन्द्रिय प्राण 4. चक्षुरिन्द्रिय प्राण 5. कायबल प्राण 6. आयुष्य प्राण।

5. असंज्ञी व संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों में सात प्राण होते है-1.स्पर्शन इन्द्रिय प्राण 2. रसनेन्द्रिय प्राण 3. घ्राणेन्द्रिय प्राण 4. चक्षुरिन्द्रिय प्राण 5. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण 6. कायबल प्राण 7. आयुष्य प्राण।

श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनबल प्राण और मनोबल प्राण - ये तीनों नियमत: पर्याप्त जीवों के ही होते है।

अत: संसार में रहने वाले सभी प्राणी सप्राण होते हैं, किंतु सब प्राणियों के प्राणों की संख्या समान नहीं होती है। चूंकि मुक्त आत्माएं सब प्रकार की पौद्गलिक शक्तियों से निरपेक्ष हो जाती हैं इसलिए उनमें इन दस प्राणों में से एक भी प्राण नहीं पाया जाता है। प्राण जीवनी शक्ति होने पर भी पौद्गलिक शक्ति रूप पर्याप्तियों की अपेक्षा रखते हैं। सिद्ध या मुक्त जीव में शुद्ध चेतना ही शेष रहती है। वहां पुद्गल किसी भी रूप में सहायक नहीं होता है। अत: प्राण की सत्ता मुक्त आत्मा में नहीं। इसकी सत्ता केवल संसारी प्राणियों में ही होती है।

बोध प्रश्न

दो इन्द्रिय जीवों के कितने प्राण होते है?

3.0 लेश्या

अधिकांश भारतीय दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है किंतु केवल आत्मा को स्वीकार करने से प्रत्यक्ष दिखने वाले जगत् के अस्तित्व को समझाया नहीं जा सकता अत: विविध भारतीय दार्शनिक आत्मा के साथ जड़ तत्त्व के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। सांख्य ने संसार की व्याख्या के लिए पुरुष (आत्मा) के साथ प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार किया है। न्याय-वैशेषिक भी आत्मा के साथ जड़ तत्त्व परमाणु के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं क्योंकि उनके मत से परमाणुओं का संयोग ही सृष्टि का मूल है। इसी प्रकार जैनदर्शन में भी जीव के साथ पुद्गल को स्वीकार किया गया है। जब आत्मा के साथ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यही कर्मपुद्गल जुड़ते हैं तो आत्मा इस संसार में परिभ्रमण करता है। यहां एक प्रश्न उभरना स्वाभाविक है कि कर्मबन्ध की प्रक्रिया में आत्मा और कर्म का सम्बन्ध होता है? इस संदर्भ में आगम लेश्या के रूप में समाधान देता है। आत्मा और कर्म को जोड़ने वाला, लिप्त करने वाला सेतु 'लेश्या' है जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होता है। धवला में लेश्या को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'लिम्पतीति लेश्याः', 'कर्मभिरात्मा नामित्यध्याहारपेक्षित्वात्', 'आत्मप्रवृत्ति संश्लेषकारी लेश्या'** अर्थात् जो लिम्पन (लेप) करती है, कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं अथवा जो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध करने वाली है, वह लेश्या है।

जैन आगमों में कई स्थानों पर लेश्या शब्द का प्रयोग हुआ है किंतु कहीं भी इसकी परिभाषा उपलब्ध नहीं है। नंदी चूर्णि के अनुसार लेश्या का अर्थ है रश्मि **"लेस्सति-रस्सीया"** (नन्दी चूर्णि पृ. 4) आगम के व्याख्या साहित्य पर नवांगीटीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने अपनी लेखनी उठाई। उनके अनुसार—कृष्ण आदि द्रव्य वर्गणाओं की सन्निधि से होने वाला जीव का परिणाम लेश्या है। इसी प्रसंग में वे एक पुरानी गाथा भी उद्धृत करते हैं—

''कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते।।''

अर्थात् स्फटिक मणि में जिस प्रकार के धागे को पिरोते हैं वह वैसा ही प्रतीत होता है, इसी प्रकार लेश्या की जैसी वर्गणाएं जीव के सम्मुख आती है, वैसे ही आत्मपरिणाम बन जाते हैं। लेश्या ही उन आत्मपरिणामों का कारण है।जैन सिद्धान्त दीपिका में आचार्य तुलसी ने लेश्या को परिभाषित करते हुए कहा है-योगवर्गणान्तर्गत द्रव्यसाचिव्यात् आत्मपरिणामो लेश्या- योग वर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलों की सहायता से होने वाले आत्म परिणाम को लेश्या कहते हैं। जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते है वे भी लेश्या कहलाते है।

3.1 कषाय-योगरंजितलेश्या

भगवतीसूत्र की वृत्ति में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अभयदेव सूरि लिखते हैं— **'कृष्णादि द्रव्य सान्निध्य जनितो जीव परिणामो लेश्या'** अर्थात् आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों को श्लिष्ट करने वाली प्रवृत्ति लेश्या है। ये योग के परिणाम विशेष हैं। तत्त्वार्थराजवार्तिक में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अकलंक ने लिखा है—**'कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्ति लेश्या'** अर्थात् कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है। आत्म-परिणामों की शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा से इसे कृष्ण आदि नामों से पुकारा जाता है।

अर्थात् कषायोदय से अनुरक्त योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। केवल योग की प्रवृत्ति से प्रकृति, व प्रदेशबन्ध होता है और कषाय सहित योग की प्रवृत्ति से चारों बन्ध होते हैं।

लेश्या कर्म के झरने के रूप में है, जैसे झरना सदैव नये-नये रूप में प्रवाहित होता रहता है, वैसे ही लेश्या का प्रवाह भी अपने असंख्य रूपों को प्रकट करता रहता है। लेश्या आंतरिक अध्यवसाय है। वह कर्म शरीर से परिस्पंदित और तैजस् शरीर से अनुप्राणित होकर चित्त के साथ काम करती है। वह हमारी भावधारा है जो मानसिक चिंतन या विचार को प्रभावित करती है। मन का सम्बंध केवल औदारिक शरीर या स्थूल शरीर के साथ है परंतु लेश्या का सम्बंध कर्म शरीर,तैजस शरीर और औदारिक शरीर तीनों के साथ है।

3.2 लेश्या के भेद

सर्वार्थसिद्धि में लेश्या के भेद करते हुए कहा गया है—**'लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति'।** लेश्या के दो प्रकार है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या।आत्मीय विचारों को भाव लेश्या और उनके सहायक पुद्गलों को द्रव्य लेश्या कहते है।

द्रव्यलेश्या—गोम्मटसार जीवकाण्ड में द्रव्यलेश्या को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

''वण्णोदयेण जणिदो, सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
सा सोढा किण्हादी, अणेयभेया सभेयेण।।''

पौद्गलिक विचारों को द्रव्यलेश्या कहते हैं। इसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह भेद हैं तथा प्रत्येक के उत्तर भेद अनेक हैं। चूंकि द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है, इसलिए पुद्गल के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। अतः द्रव्यलेश्या में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श होते हैं। क्षेत्र की दृष्टि से उसका अधिकतम विस्तार लोकाकाश तक हो सकता है। सामान्यतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वह असंख्यात आकाश प्रदेशों का अवगाहन कर रहती है। काल की अपेक्षा से वह शाश्वत् है। कभी ऐसा समय न था, न है और न होगा, जबकि द्रव्यलेश्या का अस्तित्व न हो। भाव की दृष्टि से उसमें सदैव वर्ण, गंध आदि रहते हैं। गुण की दृष्टि से ग्रहण उसका मूलगुण है अर्थात् उसमें निरन्तर पुद्गलों का आदान-प्रदान होता रहता है।

भावलेश्या — भावलेश्या का स्वरूप द्रव्यलेश्या से बिल्कुल भिन्न है। जहां द्रव्यलेश्या जीव के द्वारा ग्रहण की जाने वाली पुद्गल वर्गणाएं हैं वहां भावलेश्या स्वयं जीव का परिणाम है। प्रज्ञापना सूत्र में भावलेश्या की अपेक्षा से ही दस जीव परिणामों में लेश्या को भी गिना गया है। चूंकि भावलेश्या जीव है, इसीलिए जीव की सभी विशेषताएं उसमें होना स्वाभाविक है। अपने स्वभाव के अनुसार भावलेश्या वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से रहित है। वह अरूपी है, इसीलिए सर्वथा भार मुक्त है। जैनदर्शन में इसे अगुरुलघु नाम से भी कहा गया है।

भावलेश्या के वर्गों में परस्पर परिणमन हो सकता है। भावलेश्या के परिणमन का आधार भावों की पवित्रता और अपवित्रता है। जब भाव पवित्र होते हैं तो प्राणी कृष्णलेश्या से नीललेश्या की स्थिति में पहुंचता है। जब भाव अपिवत्र होते हैं तो चेतना का पुन: नीललेश्या से कृष्णलेश्या में परिणमन होता है। वस्तुत: भावलेश्या ही जीव की अच्छी गति और बुरी गति की कारण है। प्रशस्त भावलेश्या से जीव की अच्छी गति होती है और अप्रशस्त भावलेश्या से जीव की बुरी गति होती है। कहा जा सकता है कि द्रव्यलेश्या आत्मा का बाहरी स्तर है जिसका आधार पौद्गलिक है और भावलेश्या आंतरिक स्तर है जिसका आधार राग-द्वेषात्मक परिणति है।

3.3 लेश्या के प्रकार

लेश्याएं छह हैं — ठाणं (स्थानांग सूत्र) में लेश्या पद के अन्तर्गत छह लेश्याओं का उल्लेख है- **"लेसा पदं-छ लेसाओ पण्णत्ताओ तं जहा कण्हलेसा, णीललेसा, काउलेसा, तेउलेसा, पम्हलेसा, सुक्कलेसा"** (ठाण 6/46)

1. कृष्ण लेश्या, 2. नील लेश्या, 3. कापोत लेश्या,
4. तेजो लेश्या, 5. पद्म लेश्या, 6. शुक्ल लेश्या।

कृष्ण, नील और कापोत-ये तीनों अधर्म लेश्याएं अविशुद्ध, अप्रशस्त, संक्लिष्ट और दुर्गति में ले जाने वाली है। तेजस् पद्म और शुक्ल- ये तीनों धर्म लेश्याएं विशुद्ध प्रशस्त असंक्लिष्ट और सुगति में ले जाने वाली है। (उत्तरा./34/56/)

गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका में भी कहा गया है — **'लेश्या सा च शुभाशुभ भेदाद् द्वेधा। तत्र अशुभा कृष्णनीलकपोतभेदात् त्रेधा, शुभापि तेज:पद्मशुक्लभेदात्त्रेधा'** अर्थात् छह लेश्याएं शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की हैं। अशुभ लेश्या कृष्ण, नील और कापोत के भेद से तीन प्रकार की है और शुभ लेश्या तेजो, पद्म और शुक्ल के भेद से तीन प्रकार की है। पूर्ववर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं अत: इन्हें अप्रशस्त लेश्या कहते हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि गुण शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त हैं। विचारधारा की शुद्धि एवं अशुद्धि में अनन्तगुण तरतम भाव रहता है। पुद्गलजनित -इस तरतमभाव को छह भागों में बांटा गया है। इन छह विभागों को ही लेश्या कहते हैं। लेश्याओं के नाम द्रव्य लेश्याओं के आधार पर रखे गये है।

1. कृष्णलेश्या — पंच संग्रह में कृष्णलेश्या के लक्षण के बारे मे कहा गया है — 'जो तीव्र क्रोध करने वाला, वैरभाव से संतप्त होता है, लड़ना-भिड़ना जिसका स्वभाव होता है जो धर्म और दया से रहित, दुष्ट तथा किसी के वश में नही होता, वह कृष्णलेश्या वाला होता है। क्लेश, संताप, निर्दयता, हिंसा, असंतोष, ताप, तीव्र वैर, अति क्रोध आदि कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं। वर्ण की अपेक्षा से कृष्ण लेश्या का रंग भ्रमर, काजल की तरह काला होता है। रस की अपेक्षा से नीम से भी अनन्त गुना कटु स्वाद वाला होता है। मरे हुए सर्प की गंध से भी अनंत गुणा अनिष्ट गंध वाला होता है। गाय की जीभ से अनन्त गुणा कर्कश स्पर्श वाला होता है।उत्तराध्ययन मे मानसिक वाचिक एवं कायिक क्रियाओं में असंयम रखना बिना सोचे समझे काम करना, क्रूर व्यवहार करना कृष्ण लेश्या के परिणाम बताये गये है।

2. नील लेश्या — तिलोयपण्णत्ति में नीललेश्या के लक्षण के बारे में विवेचन है — 'विषयों में आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेक-बुद्धि से रहित, मन्द, आलसी, कायर, अत्यधिक माया और प्रपंच में लीन, निद्राशील दूसरों को ठगने में तत्पर, लोभ में अंधा, धन-धान्यजनित सुख का इच्छुक नीललेश्या वाला होता है। आलस्य, मूर्खता, कार्य के प्रति अनिष्ठा, भीरूता, तृष्णा, झूठ,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चंचलता, अति लोभ आदि नीललेश्या के लक्षण हैं। नीललेश्या का वर्ण नीलम के समान नीला होता है। इसका रस सोंठ, पीपल एवं काली मिर्च से अनन्त गुणा तिक्त होता है। इसका गंध मृत गाय, मृत कुत्ता और मृत सर्प की दुर्गंध से भी अनन्त गुणा दुर्गंध वाला है। गाय की जीभ से अनन्त गुणा कर्कश इसका स्पर्श है।उत्तराध्ययन मे कपटता, निर्लज्जता, स्वाद लोलुपता, पौद्गलिक सुखो की गवेषणा एवं आसक्ति को नील लेश्या का परिणाम बताया गया है।

3. कापोतलेश्या — जो दूसरों के ऊपर रोष करता है। दूसरों की निंदा करता है। शोक और भय से ग्रस्त हो, दूसरों से ईर्ष्या करता है। नाना प्रकार से अपनी प्रशंसा करता है तथा दूसरों को अपने समान नहीं मानता। प्रशंसा किये जाने पर हानि-लाभ को भूल जाता है। युद्ध में मरने का इच्छुक होता है तथा कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य को नही जानता वह कापोतलेश्या वाला होता है। राजवार्तिक में इसके लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है — **'मात्सर्य-पैशुन्य-परपरिभवात्मप्रशंसा परपरिवादवृद्धिहान्य गणनात्मीय जीवितनिराशता प्रशस्यमानधनदान युद्धमरणोद्यमादि कापोतलेश्यालक्षणम्'** अर्थात् निंदा, चुगलखोरी, पर-परिभव, आत्म-प्रशंसा, पर-परिवाद, जीवन नैराश्य, प्रशंसक को धन देना, युद्ध में मरने को तत्पर रहना आदि कापोत लेश्या के लक्षण हैं। इसका वर्ण कबूतर के गले के समान होता है। इसका रस कच्चे आम के रस से अनंत गुणा कसैला होता है। इसकी गंध मरे हुए सर्प की गंध से अनन्त गुणा अनिष्ट होती है तथा इसका स्पर्श गाय की जीभ से अनन्त गुणा कर्कश होता है।उत्तराध्ययन सूत्र में कार्य करने एवं बोलने में वक्रता रखना, दूसरों को कष्ट देने वाली भाषा बोलना, चुगली करना आदि कापोत लेश्या का परिणाम बताया गया है।

4. तेजोलेश्या — पंचसंग्रह में पीतलेश्या या तेजोलेश्या के लक्षण के बारे में कहा गया है कि जो अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को जानता है जो समदर्शी दया और दान में रत मृदुस्वभावी और ज्ञानी होता है वह तेजोलेश्या वाला होता है। दृढ़ता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलता, स्वकार्य दक्षता, सर्वधर्म सहिष्णुता इसके प्रमुख लक्षण हैं। उदीयमान सूर्य और सिंदूर के समान रक्त इसका वर्ण है। पके आम के रस से अनंत गुणा मधुर इसका रस है। सुगंधित फूल की गंध से अनन्त गुणा इष्ट इसकी गंध है और मक्खन से अनन्त गुणा कोमल इसका स्पर्श है।उत्तराध्ययन में ममत्व से दूर रहना, धर्म में रुचि होना, तेजोलेश्या का परिणाम बताया गया है।

5. पद्मलेश्या — इस लेश्या के लक्षण को बतलाते हुए कहा गया है — जो त्यागी, भद्र, सत्यनिष्ठ उत्तम काम करने वाला, बहुत बड़ा अपराध होने पर भी क्षमा करने वाला होता है तथा साधुओं के गुणों के प्रति पूज्यता का भाव रखता है वह पद्मलेश्या वाला होता है। हल्दी के समान इसका पीला वर्ण है, मधु से अनन्त गुणा मीठा इसका रस है, सुगंधित फूलों के गंध से अनन्त गुणा इष्ट इसका गंध है और मक्खन से अनन्त गुणा कोमल इसका स्पर्श है।उत्तराध्ययन में क्रोध न करना मितभाषी होना, इन्द्रिय-जयी होना पद्मलेश्या के परिणाम के रूप में निर्दिष्ट है।

6. शुक्ल लेश्या — जो पक्षपात न कर सबके साथ समान व्यवहार करता है। जो पर से द्वेष और स्व से राग न कर निर्वेर रहता है। शत्रु के दोषों पर भी ध्यान नहीं देता। किसी की निन्दा नहीं करता है, पापकार्यों से परे रहता हुआ श्रेयमार्ग में रूचि रखता है। वह शुक्ल लेश्या वाला होता है। शंख के समान सफेद जिसका वर्ण हो, मिसरी से अनन्त गुणा मीठा जिसका रस हो, सुगंधित पुष्पो की गंध से अनन्त गुणा इष्ट जिसका गंध हो और मक्खन से अनन्त गुणा कोमल जिसका स्पर्श हो वह शुक्ललेश्यावान है।उत्तराध्ययन में रागद्वेष रहित होना आत्मलीन होना शुक्ल लेश्या के परिणाम के रूप में निर्दिष्ट है।

लेश्या के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श का विवरण निम्न चार्ट से स्पष्ट है —

क्र. सं.	लेश्या	वर्ण	रस	गंध	स्पर्श
1.	कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त गुणा कटु	मरे हुए सर्प की गंध से अनन्त गुना अनिष्ट गंध	गाय की जीभ से अनंत गुना कर्कश
2.	नील	नीलम के समान नीला	सोंठ से अनन्त गुना तीक्ष्ण	मरे हुए सर्प की गंध से अनन्त गुना अनिष्ट गंध	गाय की जीभ से अनंत गुना कर्कश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.	कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्त गुना खट्टा	मरे हुए सर्प की गंध से अनन्त गुना अनिष्ट गंध	गाय की जीभ से अनंत गुना कर्कश
4.	तेजस्, पीत	सिन्दूर के समान लाल	पके आम के रस से अनन्त गुना मीठा	सुगंधित फूलो की गंध से अनंत गुना ईष्ट गंध	मक्खन से अनंत गुना कोमल
5.	पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्त गुना मीठा	सुगंधित फूलो की गंध से अनंत गुना ईष्ट गंध	मक्खन से अनंत गुना कोमल
6.	शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनंत गुना मीठा	सुगंधित फूलो की गंध से अनंत गुना ईष्ट गंध	मक्खन से अनंत गुना कोमल

इस प्रकार जैनदर्शन में लेश्या का बहुत सूक्ष्म विवेचन हुआ है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में स्थूल रूप से इसे समझाने के लिए एक दृष्टान्त दिया गया है, जो इस प्रकार है—

''पहिया जे छप्पुरिसा, परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि।
फलभरिय रूक्खमेगं पेक्खिता ते विचिंतंति।।'' (गाथा-507)
णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं।
खाउं फलाइं इदि जं, मणेण वयणं हवे कम्मं।।'' (गाथा-508)

छह व्यक्ति जामुन के बगीचे में गए। वहां पहुंचते ही पहला व्यक्ति बोला- इस जामुन के वृक्ष को काट गिराना ही अच्छा है ताकि नीचे बैठे-बैठे ही फल खा सके। ऐसा सुनकर दूसरे व्यक्ति ने कहा- इससे क्या लाभ? केवल बड़ी शाखाओं को काटने से ही काम चल जायेगा। तीसरे ने कहा- यह उचित नहीं। हमारा काम तो छोटी -छोटी शाखाओं से ही निकल जायेगा। चौथा व्यक्ति बोला- केवल फलों के गुच्छों को ही क्यों न तोड़ लिया जाए? पांचवें व्यक्ति ने कहा- हमारा प्रयोजन गुच्छे से नही फलों से है। अत: फलों को ही तोड़ लिया जाए। अन्त में छठे व्यक्ति ने कहा- भाई! हमें जितने फल चाहिए उतने तो नीचे ही गिरे हुए है। फिर व्यर्थ ही फलों को तोड़ने से क्या लाभ?

इस दृष्टान्त से लेश्याओं का स्वरूप और परिणामों का तारतम्य स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। पहले व्यक्ति के परिणाम कृष्ण लेश्या के है। इस दृष्टान्त के द्वारा लेश्याओं के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। यह दृष्टान्त परिणामों की तारतम्यता का सूचक है।

3.4 लेश्या की स्थिति

लेश्या की स्थिति का वर्णन श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में कुछ भिन्नता लिए हुए है। कषायों की तीव्रता और मन्दता के आधार पर लेश्या के कालमान का मापन होता है जिसे चार्ट में स्पष्ट किया गया है—

	श्वेताम्बर मान्यता		दिगम्बर मान्यता	
लेश्या	**जघन्य**	**उत्कृष्ट**	**जघन्य**	**उत्कृष्ट**
1. कृष्ण लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त अधिक तैंतीस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	तैंतीस सागर
2. नील लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असंख्यातवे भाग अधिक दस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	सत्तर सागर
3. कापोत लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असंख्यातवे भाग अधिक तीन सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	सात सागर
4. तेजो लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असंख्यातवे भाग अधिक दो सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	दो सागर
5. पद्म लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	मुहूर्त अधिक दस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	अठारह सागर
6. कृष्ण लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	मुहूर्त अधिक तैंतीस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	तैंतीस सागर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.5 लेश्या की गति

1. कृष्ण लेश्या — दुर्गति 2. नीललेश्या — दुर्गति 3. कापोतलेश्या — दुर्गति 4. तेजोलेश्या — सुगति 5. पद्मलेश्या — सुगति 6. शुक्ललेश्या — सुगति

3.6 लेश्या का परिणाम

1. कृष्ण लेश्या — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
2. नील लेश्या — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
3. कापोत लेश्या — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
4. तेजस् लेश्या — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
5. पद्म लेश्या — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
6. शुक्ल लेश्या — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट परिणामों के तारतम्य पर विचार करने से प्रत्येक लेश्या के नौ-नौ परिणाम होते हैं।

1. जघन्य — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, 2. मध्यम — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, 3. उत्कृष्ट — जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इसी प्रकार लेश्याओं के परिणामों का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के त्रिक से गुणा करने पर विकल्पों की वृद्धि होती है।

बोध प्रश्न

उत्तराध्ययन में कृष्णलेश्या का क्या परिणाम माना गया है?

4.0 जैनदर्शन में इन्द्रिय-स्वरूप

विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन के रूप मे इन्द्रिय और मन की महत्ता को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन ने **'आत्मसापेक्षं प्रत्यक्षम्'** कहकर प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और मन के सहकार को स्वीकृति नहीं दी है। तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के संदर्भ में **'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्'** कहकर इन्द्रिय और मन के सहकार को स्वीकार किया गया है। यहां ज्ञातव्य है कि प्रत्यक्ष की दो प्रमुख शाखाएं हैं- 1. आत्म प्रत्यक्ष 2. इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष।

पहली शाखा वास्तविक प्रत्यक्ष है जबकि दूसरी शाखा व्यावहारिक प्रत्यक्ष है।

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह आत्मा के लिए परोक्ष होने पर भी इन्द्रियों के लिए प्रत्यक्ष है इसलिए उसे संव्यवहार प्रत्यक्ष कहा जाता है। नन्दी सूत्र में संव्यवहार प्रत्यक्ष के पांच भेदों के अन्तर्गत पांच इन्द्रियों का उल्लेख है। वे इस प्रकार है- 1. श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष 2. चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष 3. घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष 4. रसनेन्द्रिय प्रत्यक्ष और 5. स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष।

जैनदृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि चैतन्यशील प्राणी जब तक अपनी चेतना का विशिष्ट विकास नहीं कर लेता, तब तक उसके ज्ञान के माध्यम के रूप में इन्द्रियां प्रभावी होती हैं। यहां सांसारिक जीव के विकास का क्रम भी इन्द्रियों पर अवलम्बित है। यदि सबसे कम विकसित प्राणी के रूप में एकेन्द्रिय जीव (स्पर्शेन्द्रिय मात्र) है तो सबसे अधिक विकसित प्राणी के रूप में पंचेन्द्रिय जीवों का महत्त्व है। मध्यम में द्वीन्द्रिय (स्पर्श, रसना), त्रीन्द्रिय (स्पर्श, रसना, घ्राण) तथा चतुरिन्द्रिय (स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु) का अस्तित्व है।

4.1 इन्द्रियों की व्युत्पत्ति एवं उनका स्वरूप

व्युत्पत्ति के अनुसार- **'इन्द्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिंगमिन्द्रियम्'** अर्थात् आत्मा को जिससे अर्थ का ज्ञान हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से आत्मा के लिए अर्थ की उपलब्धि का माध्यम है इन्द्रियां। सर्वार्थसिद्धि में भी उल्लेख है —

'इन्दतीति इन्द्र आत्मा। तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमें सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थो पलब्धि लिंगं तदिन्द्रियस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते। अथवा लीनं अर्थं गमयतीति लिंगम्। आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिंगमिन्द्रियम्'

'इन्दतीति इन्द्रः' अर्थात् जो ऐश्वर्य वाला है वह इन्द्र या आत्मा है।यह इन्द्रिय पद का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है।

जैन सिद्धान्त दीपिका में इन्द्रिय का प्रवृत्ति लभ्य अर्थ मिलता है। वहां बताया गया है- **"प्रतिनियतविषयग्राहि इन्द्रियम्"**-जिनके द्वारा अपने-अपने नियत विषय-शब्द आदि का ज्ञान होता है उसे इन्द्रिय कहते है।

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति है पर सबमें उसका विकास समान नहीं होता। विकास की पहली श्रेणी है- इन्द्रिय ज्ञान।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञान का विशेष विकास किसी में हो या न हो पर इन्द्रिय ज्ञान तो अविकसित आत्मा में भी होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि जीव और अजीव में भेद रेखा बताने वाला एक चिन्ह है इन्द्रिय।

प्राणी असीम ऐश्वर्य वाला है, इसलिए वह इन्द्र है। इन्द्र के चिन्ह का नाम है -इन्द्रिय । इन्द्रियां पांच है और इनके विषय भी पांच है। इसलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत अर्थग्राही कहा गया है। पांचों इन्द्रियों का संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है-

1. **स्पर्शनेन्द्रिय**— जिससे स्पर्श का ज्ञान होता है, वह स्पर्शन इन्द्रिय अर्थात् त्वचा है।
2. **रसनेन्द्रिय**— जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है, वह रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वा है।
3. **घ्राणेन्द्रिय**— जिस इन्द्रिय से गंध का ज्ञान होता है, वह घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नाक है।
4. **चक्षुरिन्द्रिय**— जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है, वह चक्षुरिन्द्रिय अर्थात् नेत्र है।
5. **श्रोत्रेन्द्रिय**— जिस इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, उसे श्रोत्रेन्द्रिय अर्थात् कान कहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में इसे **स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु:श्रोत्राणि एवं स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्था:** कहकर पांच इन्द्रियों के पांच विषय स्पष्ट किये गये हैं।

4.2 द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय

तत्त्वार्थसूत्र में 'द्विविधानि' कहकर पांचों इन्द्रियों में प्रत्येक के दो-दो भेद किये गये हैं। सर्वार्थसिद्धि में भी **'तौ द्वौ प्रकारौ द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियमिति'** कहकर द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के रूप में इन्द्रियों के दो भेदों का निर्देश है। प्रमाणमीमांसा मे बताया गया है— निश्चित आकार वाले पुद्गल द्रव्येन्द्रिय कहलाते हैं। नाक, कान, रसना, चक्षु और त्वचा की बाहरी और भीतरी आकार विशेष की पौद्गलिक रचना को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आत्मा के परिणाम विशेष (जानने की योग्यता और प्रवृत्ति) को भावेन्द्रिय कहते हैं।(जैन सिद्धान्त दीपिका)

4.3 द्रव्येन्द्रिय के भेद

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं- 1. निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय 2. उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

1. निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय- निर्वृत्ति का अर्थ है- आकार। आकार बाह्य व आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्येक जीव की प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय का स्वतंत्र आकार होता है। स्पर्शनेन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी इन्द्रियों का आभ्यन्तर आकार सबके एक समान होता है।

श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार कदम्ब के फूल जैसा चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा, घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा तथा रसनेन्द्रिय का खुरपे जैसा होता है।

स्पर्शनिन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार अपने शरीर के अनुरूप होता है। अत: वह अनेक प्रकार का है। गौतम द्वारा स्पर्शनिन्द्रिय के विषय में पृच्छा किए जाने पर भगवान ने कहा- गोयमा! "णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते।" अर्थात गौतम! स्पर्शनिन्द्रिय नाना प्रकार के आकार की प्रज्ञप्त है।

2. उपकरण द्रव्येन्द्रिय- 'उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्' जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है उसे उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते है। निर्वृत्ति के दो भेद की तरह उपकरण द्रव्येन्द्रिय के भी बाह्य और आभ्यन्तर-दो भेद किये गये है। नेत्रेन्द्रिय की दोनों बरौनी और पलकें बाह्य उपकरण द्रव्येन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय के भीतर जो कृष्ण और शुक्ल मण्डल है, वह आभ्यन्तर उपकरण इन्द्रिय है। कर्णेन्द्रिय की बाह्य आकृति कर्णशकुली है उसकी आन्तरिक आकृति कदम्ब के फूल जैसी है।

आभ्यन्तर निवृत्ति और आभ्यन्तर उपकरण में अन्तर- आभ्यन्तर निवृत्ति है आकार और उपकरण है उसके भीतर विद्यमान अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने वाली पौद्गलिक शक्ति। किसी कारण से यदि उपकरण द्रव्येन्द्रिय नष्ट हो जाए तो आभ्यन्तर द्रव्येन्द्रिय होने पर भी विषयों का ग्रहण नहीं होता। उदाहरणार्थ बाह्य निवृत्ति है- तलवार, आभ्यन्तर निर्वृत्ति है- तलवार की धार और उपकरण है- तलवार की छेदन-भेदन शक्ति। इस प्रकार पदार्थ के ज्ञान में आत्मशक्ति के साथ पौद्गलिक शक्ति का भी अपना मूल्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.4 भावेन्द्रिय के लक्षण एवं प्रकार

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—लब्धिभावेन्द्रिय और उपयोग भावेन्द्रिय। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर स्पर्श आदि विषयों को जानने की जो शक्ति है, उसे लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं।

ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति की प्रवृत्ति को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं। लब्धि है चेतना की योग्यता और उपयोग है चेतना का व्यापार। उदाहरण के लिए चाकू है, उसका आकार .....है चाकू चलाने की क्षमता भी है पर जब तक चलाने का पुरूषार्थ नहीं होगा, छेदन भेदन की क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकेगी। उपयोग के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि निवृत्ति, उपकरण और लब्धि इन तीनों के होने से जो विषयों में प्रवृत्ति होती है, वह उपयोग इन्द्रिय है। यहां प्रश्न भी उठता है कि उपयोग इन्द्रिय न होकर इन्द्रिय का फल है फिर उसे इन्द्रिय कैसे कहा जा सकता है। 2. समाधान के रूप में कह सकते हैं कि उपयोग इन्द्रिय का कार्य है पर यहां उपचार से अर्थात् कार्य मे कारण का आरोप करके उपयोग को भी इन्द्रिय कहा गया है अथवा इन्द्रिय का मुख्य अर्थ उपयोग है, इसलिए उपयोग को इन्द्रिय कहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि निर्वृत्ति और उपकरण इन्द्रिय ज्ञान के साधन हैं, लब्धि ज्ञान की शक्ति है और उपयोग उस शक्ति का कार्यरूप में परिणमन है। ये चारों मिलकर अपने-अपने विषय का ज्ञान कर सकते हैं इसलिए इन चारों को किसी न किसी रूप में इन्द्रिय कहा गया है, जिसे निम्न चार्ट से भलीभांति समझा जा सकता है—

4.5 इन्द्रियों का क्रम

तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री ने द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के क्रम की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि जिस जीव के जिस जाति नामकर्म का उदय होता है उसके उसी के अनुसार इन्द्रियावरण का क्षयोपशम और आंगोपांग नामकर्म का उदय होकर उतनी द्रव्येन्द्रियां और भावेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। उसमें भी लब्धि भावेन्द्रिय भव के प्रथम समय में उत्पन्न हो जाती है और द्रव्येन्द्रिय की रचना शरीर ग्रहण के प्रथम समय से प्रारंभ होती है तथा जब द्रव्येन्द्रिय पूर्ण हो जाती है तब उपयोग भावेन्द्रिय होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पहले लब्धिरूप भावेन्द्रिय फिर द्रव्येन्द्रिय और तदुपरान्त उपयोग भावेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

4.6 इन्द्रियों में प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

'पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सेद रूबं। फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणेइ।' अर्थात् कान स्पृष्ट शब्द को सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूप को देखता है तथा त्वचा, जिह्वा और घ्राण क्रमशः बद्ध और स्पृष्ट स्पर्श, रस और गंध को जानते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में इसी को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गधं रसं च फासं च बद्ध-पुट्ठ वियागरे।।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन दर्शन में इन्द्रियों के संदर्भ में उद्भूत चार समस्याओं का समुचित निदान देखा जाता है जो इस प्रकार है-

1. जिस प्राणी के कान का आकार नहीं होता, वह शब्द को नहीं जान सकता।
2. कान का आकार ठीक होते हुए भी शब्द को नहीं सुन पाता।
3. तत्काल मृत व्यक्ति के कान का आकार और शक्ति रहते हुए भी शब्द नहीं सुन पाता।
4. अन्यमनस्क व्यक्ति सामने की आवाज भी नहीं सुन पाता।

इन्हीं उपर्युक्त चार समस्याओं को ध्यान में रखकर संभवत: जैनदर्शन में इन्द्रिय चतुष्टय का का विधान किया गया है—

1. निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय (इन्द्रिय की रचना),
2. उपकरण द्रव्येन्द्रिय (विषय का ज्ञान कराने में सूक्ष्मतम पौद्गलिक अवयव),
3. लब्धि भावेन्द्रिय (चेतन इन्द्रिय, ज्ञान शक्ति),
4. उपयोग भावेन्द्रिय (ज्ञान शक्ति का व्यापार)।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक इन्द्रिय ज्ञान के लिए ये चार बातें आवश्यक हैं—

1. इन्द्रिय की रचना,
2. इन्द्रिय की ग्राहक शक्ति,
3. इन्द्रिय की ज्ञान शक्ति,
4. इन्द्रिय की ज्ञान शक्ति का व्यापार।

मन- सर्वार्थग्राहि त्रैकालिक मन:-सभी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने वाला तथा तीनों कालों को ग्रहण करने वाला मन है।

जैनदर्शन में मन को अनीन्द्रिय कहा गया है। मतिज्ञान के संदर्भ में पूर्व उद्घृत 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' से यही स्पष्ट होता है। इन्द्रियों की भांति मन बाहरी साधन नही है अपितु आंतरिक साधन है, एकार्थग्राही नहीं है अपितु सर्वार्थग्राही है और इसका कोई नियत आकार नहीं है इसलिए वह अनिन्द्रिय नोइन्द्रिय है। इसलिए इन्द्रिय विषय के अंतर्गत यहां मन की चर्चा नहीं की गयी है।

सारांश

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में जैनदर्शन के अनुसार प्राण, पर्याप्ति, लेश्या एवं इन्द्रिय के स्वरूप, लक्षण एवं प्रकारों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

अभ्यास के प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. लेश्या का अर्थ करते हुए उसके स्वरूप एवं लक्षण को बतलाइये तथा लेश्या के प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. प्राण और पर्याप्ति के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
2. इन्द्रिय स्वरूप को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अप्रशस्त लेश्याएं कितनी हैं?
2. पर्याप्ति का अर्थ क्या है?
3. सबसे पहले किस पर्याप्ति का बन्ध होता है।
4. ओज आहार क्या है?
5. कर्णेन्द्रिय के कितने विषय हैं?
6. प्राण किसे कहते हैं?
7. प्राण कितने हैं?
8. कापोत लेश्या का लक्षण क्या है?
9. शुक्ल लेश्या का स्पर्श कैसा है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. तत्त्वार्थ सूत्र-उमास्वाती
2. जैन तत्त्व विद्या भाग 1, 2,,3 - आचार्य तुलसी
3. जीव-अजीव- आचार्यश्री महाप्रज्ञ
4. नवपदार्थ -आचार्य भिक्षु
5. जैन सिद्धान्त दीपिका-आचार्य तुलसी
6. द्रव्य संग्रह-नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती
7. द्रव्यानुयोगतर्कणा-भोजसागर
8. जैन दर्शन-मनन और मीमांसा-आचार्यश्री महाप्रज्ञ
9. जैन दर्शन में आत्मा विचार- डॉ. लालचन्द जैन
10. आर्हती दृष्टि-समणी डॉ. मंगलप्रज्ञा
11. जैन तत्वमीमांसा-डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
12. प्रवचन पाथेय भाग-8 आचार्य तुलसी
13. जिनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग-3
14. प्रज्ञापना सूत्र
15. गोम्मटसार जीवकाण्ड- नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती

स्नातक प्रथम वर्ष
जैन विद्या : द्वितीय पत्र — जैन तत्त्व विद्या
प्रश्न बैंक

1. तत्त्व किसे कहते हैं? नौ तत्त्वों पर प्रकाश डालिए।
2. जीव और अजीव तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
3. निर्जरा का अर्थ करते हुए उसके भेदों को स्पष्ट कीजिए।
4. पुण्य और पाप तत्त्वों पर प्रकाश डालिए।
5. आस्रव तत्त्व की विवेचना कीजिए।
6. संवर तत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
7. जैनदर्शन के अनुसार बंधन और मोक्ष पर प्रकाश डालिए।
8. द्रव्य किसे कहते हैं? द्रव्यों के भेदाभेदवाद को स्पष्ट कीजिए।
9. जीव और अजीव द्रव्य की व्याख्या कीजिए।
10. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तर्क द्वारा इनकी सिद्धि कीजिए।
11. आकाशास्तिकाय द्रव्य पर प्रकाश डालिए।
12. काल को अनस्तिकाय द्रव्य क्यों कहा गया है? इसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
13. जीव के लक्षण की विस्तार में व्याख्या कीजिए।
14. जीव के अस्तित्व सिद्धि में दिये गये प्रमुख तर्कों को समझाइये।
15. जीव के विविध भेद-प्रभेदों को स्पष्ट कीजिए।
16. पुद्गल का अर्थ करते हुए उसके लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
17. पुद्गल की अवस्था को स्पष्ट कीजिए।
18. परमाणु के स्वरूप एवं लक्षण की व्याख्या कीजिए।
19. पुद्गल के विविध प्रकार के भेदों पर प्रकाश डालिए।
20. पर्याप्ति किसे कहते हैं? विविध प्रकार की पर्याप्तियो को स्पष्ट कीजिए।
21. प्राण का अर्थ करते हुए दस प्रकार के प्राणों की व्याख्या कीजिए।
22. प्राण और पर्याप्ति का अन्तर स्पष्ट करते हुए दोनों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
23. लेश्या का अर्थ स्पष्ट करते हुए छः प्रकार के लेश्याओं की विवेचना कीजिए।
24. लेश्या के भेद-प्रभेदों पर प्रकाश डालिए।
25. इन्द्रियों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जैनदर्शन के अनुसार इन्द्रियों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (बी.ए.) प्रथम वर्ष

विषय : जैन विद्या

द्वितीय पत्र : जैन तत्त्व विद्या

संवर्ग

संवर्ग– I	:	तत्व एवं उसके प्रकार
संवर्ग– II	:	द्रव्य, गुण एवं पर्याय
संवर्ग– III	:	जीव स्वरूप, विभिन्न दृष्टि
संवर्ग– IV	:	पुदगल एवं उसके भेद
संवर्ग– V	:	प्राण, पर्याप्ति, लेश्या और इन्द्रिय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. दयानन्द भार्गव**
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

2. **प्रो. अरूण मुखर्जी**
पूर्व विभागध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

3. **प्रो. कुसुम जैन**
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

4. **डॉ. विमला भण्डारी**
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

5. **प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी**
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

6. **प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा**
आचार्या एवं विभागाध्यक्ष
जैन विद्या विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

7. **प्रो. ऋजुप्रज्ञा**
आचार्या, जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

8. **डॉ. शुभ प्रज्ञा**
सहायक आचार्य
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

लेखक

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभाती संस्थान, लाडनूँ

सम्पादक मण्डल

मुनि कुलदीप कुमार
मुनि दिनेश कुमार
साध्वी श्रुतयशा

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 3000

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341 306 (राजस्थान)

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुक्रमणिका

संवर्ग	इकाई पाठ्यक्रम विवरण	पृष्ठ सं.
I	तत्त्व का स्वरूप, तत्त्व के प्रकार, तत्त्व चिंतन का लक्ष्य, अस्तिकाय	01–17
II	द्रव्य, गुण पर्याय का स्वरूप, भेद एवं सम्बन्ध	18–38
III	जीव स्वरूप, जीव सिद्धि, जीव के प्रकार, विभिन्न दृष्टि से जैन दर्शन में जीव	39–57
IV	पुद्गल का स्वरूप, भेद, अवस्थाएं जीव और पुद्गल का सम्बन्ध, परमाणु स्वरूप	58–75
V	प्राण, पर्याप्ति, लेश्या और इन्द्रिय	76–89
	संदर्भ सूची	90
	प्रश्न–बैंक	90

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun